FATEH HIGH

Roll No ______

Subject ______

Paper ______

Date ______

Marks Gained

Max. Marks

Examiner's Signature ______

1	2	3	4	5

प्रताप-समीक्षा

प्रेमनारायण टन्डन

आलोचना-साहित्य का आठवाँ प्रसून

प्रताप-समीक्षा

पं० प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों का संग्रह
और उनके जीवन तथा साहित्य पर
समीक्षात्मक-विवेचन।

श्री प्रेमनारायण टंडन
अध्यापक-कालीचरन हाईस्कूल,
लखनऊ

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

प्रकाशक
महेन्द्र, संचालक
साहित्य-रत्न-भण्डार,
सिविल लाइन्स, आगरा।

प्रथम संस्करण	वसन्त पंचमी १९९५ जनवरी १९३९	मूल्य बारह आना

मुद्रक
साहित्य प्रेस,
सिविल लाइन्स, आगरा।

विषय-सूची

हमारा आलोचनात्मक साहित्य

१—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास

"श्री गुलाबराय की यह पुस्तक उत्तरदायित्व पूर्ण है, और संक्षिप्त इतिहास लेखन के लिए एक आदर्श है। इसमें हिन्दी के आदि काल से लेकर आधुनिक काल तक की समस्त धाराओं का सुबोध अवगाहन है।" मूल्य १।) —हिन्दुस्तानी

२—जेबुन्निसा के आँसू

सम्राट् औरङ्गजेब की बेटी राजकुमारी जेबुन्निसा का नाम कविता-जगत में अमर रहेगा। यह पुस्तक उन्हीं की कविता पर आलोचना और परिचय-स्वरूप अपने ढंग की पहली और अनूठी है। बहुत ही आकर्षक और पढ़ने योग्य है। मूल्य १)

३—साहित्य की झांकी

"हिन्दी-साहित्य में अनेक 'इतिहास' 'विवेचनात्मक विकास' और 'विनोदों' के होते हुए भी *इस झाँकी का अपना स्थान* है। पुस्तक आद्योपान्त पढ़ जाने पर ज्ञात होता है कि लेखक के विचारों में मौलिकता, अध्ययन और विचार कूट-कूट कर भरी हुई है।" मूल्य ॥) —नवज्योति

४—गुप्तजी की कला

"प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने गुप्तजी की कला, दृष्टि-कोण, शैली, विषय, कथा-वस्तु तथा अभिरुचि पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। शुरू से आखीर तक लेखक का यह प्रयत्न रहा है कि कम ही दायरे में कवि की सारी विशेषताओं का प्रदर्शन हो सके। हमें यह कहते प्रसन्नता होती है कि वे इस प्रयत्न में काफी सफल हुए हैं। लेखक ने ऐसी सुन्दर पुस्तक लिख कर हिन्दी-साहित्य का वास्तविक कल्याण किया है।" मूल्य ॥) —मासिक विश्वमित्र

५—प्रसादजी की कला

"प्रस्तुत पुस्तक में प्रसादजी की सर्वतोमुखी प्रतिभा पर भली-भाँति प्रकाश डाला गया है। आरम्भ में प्रसादजी की जीवन-कथा पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद प्रसादजी की कविताओं की आलोचना है और इसके बाद प्रसादजी के लिखे नाटकों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है। इसके अलावा पुस्तक में प्रसादजी के गीत, उनके उपन्यास, उनके महाकाव्य कामायिनी आदि पर सुन्दर निबन्ध हैं। पुस्तक प्रसादजी की कला से प्रेम रखने वालों के लिए बहुत उपयोगी है। ऐसी सुन्दर पुस्तक निकालने के लिए प्रकाशक महोदय बधाई के पात्र हैं।" मूल्य ।॥)

—साप्ताहिक विश्वमित्र

६—सुमित्रानन्दन पन्त

"प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ने से ज्ञात होता है कि इसके लेखक पंतजी पर लिखने के सुयोग्य अधिकारी हैं। उन्होंने बड़े ही सहृदय दृष्टि से कवि पंत को जाना समझा है और एक कलाकार पर एक कलात्मक दृष्टिकोण से ही स्वच्छ प्रकाश डाला है। हिन्दी-समालोचना की शैली कितनी बदल गई है, यह इस पुस्तक से स्पष्ट ज्ञात होता है। जिस तेजी से हमारे साहित्य और कला की व्यञ्जनाएँ बदल रही हैं, उसी तेजी से समालोचना की तर्ज़-अदा भी बदल रही है। पुरानी रुचि का जो साहित्यिक समाज वर्तमान साहित्य के स्पर्श में नहीं है, वह नई समालोचना शैली को देख कर एक बदले हुए संसार का अनुभव करेगा। लेकिन नई पीढ़ी, नए संसार और नए साहित्य को बड़े मनोयोग से ग्रहण कर लेती है। फलतः यह पुस्तक भी नई पीढ़ी के पाठकों के लिए उनकी अपनी चीज है।" मूल्य १)

—हिन्दुस्तानी

अपनी बात

आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी-साहित्य-सेवा की परिचयात्मक आलोचना लिखने के उद्देश्य से, तीन वर्ष पहले, मैंने हिन्दी के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें देखी थीं। इनमें मुझे स्व० पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के विषय में दो लेख मिले। "सरस्वती" में स्वयं द्विवेदीजी का लेख था और "विशाल-भारत" में प्रो० रमाकान्तजी त्रिपाठी एम० ए० का। द्विवेदीजी का लेख "सुकवि-सङ्कीर्तन" में और बाद को "निबन्ध-नवनीत" की भूमिका के रूप में, संकलित हुआ तथा त्रिपाठीजी का लेख "प्रताप-पीयूष" की प्रस्तावना के रूप में। "प्रताप-समीक्षा" की भूमिका के "चरित्र और स्वभाव" आदि अंश लिखने में मुझे इन्हीं दोनों लेखों पर निर्भर रहना पड़ा है। इस विषय से सम्बन्ध रखते हुए दोनों महाशयों के भाव मैंने ज्यों-के-त्यों रखने का प्रयत्न किया है। इस सहायता के लिए दोनों विद्वानों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। भूमिका के अन्दर किसी स्थान पर यदि इन लेखों के अंशों को उद्धृत करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है, तो मैंने लेखक महाशय का नाम दे दिया है।

"सरस्वती" के इस वर्ष के एक अङ्क में श्रीयुत गोपालराम गहमरी का एक लेख मिश्रजी के विषय में प्रकाशित हुआ था। गहमरीजी अपने को मिश्रजी का शिष्य मानते हैं। अतः मैंने इस पुस्तक की प्रस्तावना उनकी सेवा में संशोधन के लिए भेजी थी। मेरे लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि उन्होंने

अपना बहुत समय देकर उसे ध्यान से पढ़ा और उसमें यत्र-तत्र संशोधन भी किये। इसके लिए मैं उनका भी बड़ा कृतज्ञ हूँ।

मिश्रजी के लेखों के दो संकलन (१) निबन्ध-नवनीत और (२) प्रताप-पीयूष—मैंने देखे हैं; परन्तु "प्रताप-समीक्षा" में जिन लेखों का संकलन है उनमें तीन (वृद्ध, काल और बात) ऐसे हैं, जो उक्त दोनों ही पुस्तकों में नहीं हैं और तीन लेख (खुशामद, शिव-मूर्ति और सोने का डण्डा और पौंडा) प्रताप-पीयूष में तो हैं; परन्तु "निबन्ध-नवनीत" में नहीं। इससे जिन महाशयों ने मिश्रजी के लेखों के दो संकलन देखे हैं, उनका भी शायद कुछ मनोरंजन हो सकेगा।

एक बात और, भूमिका में मैंने मिश्रजी की कविता के उदाहरण कुछ अधिक दिये हैं। इसका कारण यह है कि मैं पुस्तक में उनकी कविताएँ संकलित न कर के भी यह चाहता था कि पाठक, मिश्रजी की कविता और तत्सम्बन्धी उद्देश्य से परिचित हो जायँ।

अन्त में मैं 'साहित्य-रत्न-भण्डार' के अध्यक्ष श्रीयुत महेन्द्रजी को धन्यवाद देता हूँ, जिनके सहयोग से "समीक्षा" पाठकों के पास पहुँचने योग्य हुई।

—प्रेमनारायण टण्डन।

हिन्दी-गद्य का विकास

हिन्दी-गद्य का आविर्भाव संवत् १२२६ में माना जाता है। इसका पहला उदाहरण दान-पत्रों में—जैसे "मेवाड़ की सनद" सं० १२२६—में मिलता है। फिर लगभग २०० वर्ष तक हिन्दी-गद्य की क्या दशा रही—इसका हाल हमें नहीं मालूम। कारण, इस सम्बन्ध में अभी तक विशेष खोज नहीं हुई है। इसके पश्चात् सं० १४०० से १७०० तक के कुछ लेखकों और उनके ग्रन्थों का पता लगा है, जो इस प्रकार है—

लेखक	ग्रन्थ	भाषा (साधारणतः)
(१) गोरखनाथ	सिष्ट-प्रमाण (सं० १४०७)	ब्रजभाषा
(२) विट्ठलदास	शृङ्गार-रस-मण्डन	,,
(३) गोकुलनाथ	चौरासी वैष्णव की वार्ता, वनयात्रा, दो सौ वैष्णव की वार्ता।	,,
(४) नन्ददास	विज्ञानार्थ-प्रवेशिका	,,
(५) गंगाभाट	चंद छंद बरनन की महिमा (सं० १६२७)	ब्रज और खड़ी बोली मिश्रित
(५) नाभादास	सं० १६४० में लिखी अष्टयाम नाम की पुस्तक	,,
(७) महाकवि तुलसीदास	पंचनामा (सं० १६६६)	काशी की बोल-चाल की भाषा

(८) वैकुण्ठयात्रा-वैशाख माहात्म्य, अगहन माहात्म्य (सं१६८० के लगभग) } ब्रज-खड़ी मिश्रित

इन गद्य-ग्रन्थों की भाषा और शैली अत्यन्त अनगढ़ और शिथिल है। यह ग्रन्थ प्रायः ब्रजभाषा के गद्य में लिखे गये हैं। यद्यपि यह काल ब्रज-भाषा-काव्य के लिए स्वर्ण-काल था। तथापि गद्य के लिए धीरे-धीरे लोग खड़ी बोली को अपनाने लगे थे। इसका एक कारण यह था कि यह जनता की बोलचाल की भाषा थी। अतः इसके पश्चात् खड़ी बोली का युग आरम्भ होता है। काव्य-प्रगति के काल-विभाग के अनुसार इस खड़ी बोली के विकास-काल को, अपनी सरलता के लिए, हम निम्नलिखित चार भागों में बाँट सकते हैं—

(१) सं०१७०० से १६२५ तक—प्राचीनकाल या आविर्भाव-काल।
(२) सं० १६२५ से १६५५—तक मध्यकाल या भारतेन्दु-युग।
(३) सं० १६५५ से १६७५ तक—पुनर्जाग्रति काल या द्विवेदी-युग।
(४) सं० १६७५ से अब तक—आधुनिक काल।

आविर्भाव-काल

यद्यपि इस युग का कोई ग्रन्थ साहित्यिकता या मौलिकता की दृष्टि से महत्व का नहीं, तथापि भाषा के इतिहास में इस युग का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। यों तो ब्रज-भाषा और राजस्थानी के कुछ ग्रन्थ इस काल में भी लिखे गये; पर खड़ी-बोली का निरन्तर विकास होता रहा। इस काल के कुछ लेखक ये हैं—

लेखक	ग्रन्थ	भाषा (साधारणतः)
(१) मनोहरदास निरञ्जनी—	सं० १७०७	ब्रज-भाषा

लेखक	ग्रन्थ	भाषा (साधारणतः)
(२) जगजी चारण	"रतनमहेशदासोत-वचनिका" (सं० १७१५ के लगभग)	राजस्थानी
(३) दामोदरदास	"मार्कंडेय पुराण" का उल्था (सं० १७१५ के लगभग)	व्रजभाषा
(४) जोधपुर नरेश के पुत्र अमरसिंह (सं० १७३१-८१)	"गुणसार"	मारवाड़ी (खड़ी बोली मिश्रित)
(५) अमरसिंह कायस्थ (सं० १७६३-१८४०)	अमर-चन्द्रिका (बिहारी सतसई की टीका)	व्रजभाषा
(६) सूरति मिश्र (सं० १७६७ के लगभग)	बैताल पचीसी	"
(७) अमनारायण दास	"भक्तमाल प्रसंग" (सं० १८२६)	"
(८) हीरालाल—'आइने अकबरी' का उल्था (सं० १८५१, पृ० ३५३)		व्रजभाषा
(९) बाँकीदास (सं०१८३८-९०)	आसिया चारण बाँकीदासरी ऐतिहासिक वार्ता	राजस्थानी
(१०) मुंशी सदासुखलाल नियाज (सं०१८०३-८१)	सुखसागर (श्रीमद्भागवत का अनुवाद)	खड़ी बोली

लेखक	ग्रन्थ	भाषा (साधारणतः)
(११) इंशाअल्लाखाँ	उदयभान चरित्र या रानी केतकी की कहानी (सं० १८५७ के लगभग)	खड़ी बोली
(१२) लल्लू लाल (सं०१८२०-८२)	प्रेमसागर (अनुवाद)	खड़ी बोली प्रधान
(१३) सदल मिश्र (सं०१८२४-१९०५)	नासिकेतोपाख्यान	खड़ी बोली
(१४) राजा शिवप्रसाद	कुछ पाठ्य-पुस्तकें	उर्दू के बहुत निकट हिन्दी
(१५) राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८३-१९५३)	अभिज्ञान शाकुन्तल (सं० १९१९) और रघुवंश (दोनों अनुवादित हैं।)	शुद्ध खड़ी बोली
(१६) स्वामी दयानन्द (सं० १८७१-१९४०)	सत्यार्थ प्रकाश	हिन्दी (गुजराती की झलक है; पर उर्दू की नहीं)

उपर्युक्त जिन १६ लेखकों के नाम दिए गये हैं, उनमें पहले ९ का खड़ी बोली के निर्माण में कोई हाथ नहीं है; हाँ पिछले ७ लेखकों की उसके विकास पर छाप अवश्य लगी है। यों मुंशी सदासुखलाल को वर्तमान हिन्दी-गद्य का प्रथम लेखक हम मान सकते हैं। सदल मिश्र की भाषा भी उनसे मिलती-जुलती है। लल्लूलाल की भाषा, खड़ी बोली की प्रधानता होते हुए भी मुंशीजी की भाषा से कुछ भिन्न है; पर हिन्दी के प्रचार का प्रश्न

अन्तिम तीन सज्जनों के समय में आता है। राजा शिवप्रसाद की उर्दू-प्रियता ने राजा लक्ष्मणसिंह सरीखे हिन्दी के पक्षपाती पैदा कर दिये। स्वामीजी की सुधार-भावना की उत्तेजना ने उसके पक्ष को और भी मजबूत कर दिया।

भारतेन्दु-युग

यहीं से भारतेन्दु-युग का आरम्भ होता है। वास्तव में हरिश्चन्द्र ही हिन्दी-गद्य के जन्मदाता हैं। उन्होंने उसे 'साहित्यिक' भाषा का रूप देकर उसके साहित्य के विभिन्न अङ्गों की पूर्ति का सराहनीय प्रयत्न किया। उस समय, "नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचार-धारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ-साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गये थे; पर साहित्य पीछे ही पड़ा था।" इस कमी को उन्होंने दूर किया और "हिन्दी को वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए।" फलतः कई विद्वान् उसकी उन्नति करने में संलग्न हुए और उसके विभिन्न अङ्गों की पूर्ति होने लगी। सर्वश्री कार्त्तिकप्रसाद खत्री, केशवराम भट्ट, श्रीनिवासदास, तोताराम, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, राधारमण गोस्वामी, राजा रामपालसिंह, बालमुकुन्द गुप्त, आदि का नाम इस समय के प्रमुख लेखकों में उल्लेखनीय है।

द्विवेदी-युग

परन्तु इस युग के लेखकों के हिन्दी-गद्य की स्तुत्य सेवा करने पर भी उसमें दो तीन त्रुटियाँ रह गईं—

(क) भाषा का प्रचार तो होने लगा था; परन्तु उसकी शुद्धता, संस्कार, और परिमार्जन की ओर लोगों का ध्यान अधिक नहीं था।

(ख) शैली का कोई रूप स्थिर नहीं हुआ था।
(ग) हिन्दी-गद्य का प्रचार अधिक नहीं था।

हिन्दी-गद्य की तीनों त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न द्विवेदी-युग में किया गया। इसके लिए बड़े-बड़े साहित्यिक युद्ध हुए। पर अन्त में अनवरत परिश्रम और अध्यवसाय के कारण इस युग के लेखकों को सफलता प्राप्त हुई। इस युग के प्रमुख लेखक, सर्वश्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, बा० श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, सरदार पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्री गोपालराम गहमरी, मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, भगवानदीन, रायकृष्णदास, पं० देवीप्रसाद पूर्ण, माधव शुक्ल, देवकीनन्दन खत्री, ज्वालादत्त शर्मा, सीताराम, रामचन्द्र वर्मा, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि-आदि हैं। इन लेखकों के सराहनीय प्रयत्न से, निबन्ध, समालोचना, नाटक, उपन्यास, इतिहास, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाज-शास्त्र, पुरातत्व, भ्रमण, जीवन-चरित्र, शिक्षा आदि अनेकानेक विषयों पर सुन्दर रचनाएँ होने लगीं।

आधुनिक-युग

ऊपर जो सूची दी गई है, उसमें के अधिकाँश महानुभाव हमें आधुनिक युग में ले आते हैं। बहुत से नये लेखक भी आज अपनी प्रतिभा-प्रभा से गद्य-साहित्य-संसार को आलोकित कर रहे हैं।

इनमें सर्वश्री स्व० जयशंकर 'प्रसाद', गोविंदवल्लभ पन्त, उग्र, सुदर्शन, बद्रीनाथ भट्ट, प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ कौशिक, गुलाबराय, वृन्दावनलाल वर्मा, रायकृष्णदास, श्रीराम शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, रामनाथ लाल, बाबूराव पराड़कर, नलिनीमोहन सान्याल, धीरेन्द्र वर्मा, जैनेन्द्र, बनारसीदास

चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, सत्येन्द्र, नगेन्द्र प्रभृति लेखक हिन्दी की सर्वांगीण उन्नति की ओर प्रयत्नशील हैं। यह द्विवेदी युग और आधुनिक युग के लेखकों के प्रयास का सुपरिणाम है कि आज हिन्दी-साहित्य के रिक्त अंगों की पूर्ति हो रही है और हिन्दी आज राष्ट्रभाषा समझी जाने लगी है। उसकी यह उन्नति देख कर आज हमारा रोम-रोम पुलकित हो जाता है और हमें पूर्ण आशा होती है कि भविष्य में शीघ्र ही हिन्दी की आशातीत और अपूर्व उन्नति हो जायगी। ईश्वर से प्रार्थना है कि इस आशा के पूर्ण करने की हमें शक्ति दे।

प्रेमनारायण टण्डन,
रानीकटरा, लखनऊ।

परिचय

वंश-विवरण

कानपूर से पाँच-छः कोस की दूरी पर उन्नाव शहर है। यहाँ से थोड़े ही फासले पर बैजेगाँव नाम का एक गाँव है। पं० प्रतापनारायण मिश्र यहीं के रहने वाले थे। उनके प्रपितामह का नाम पं० सेवकनाथ था। इनके एक पुत्र था, इसका नाम पं० रामदयाल था। कहा जाता है कि बड़े होने पर ये कविता करने लगे थे। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये प्रसिद्ध कवि नहीं थे। सम्भव है, उन्होंने कुछ कविता की हो। उनकी कविता का कोई नमूना नहीं मिलता, शायद पं० प्रताप नारायण को भी उनकी कोई कविता देखने को नहीं मिली, तभी उन्होंने इसका कुछ जिक्र कहीं नहीं किया है।

पं० रामदयाल के पुत्र का नाम पं० संकटाप्रसाद था। ये अच्छे ज्योतिषी हुए। इनकी आर्थिक दशा अच्छी न थी। इससे पं० संकटाप्रसाद को केवल १४ वर्ष की छोटी अवस्था में ही अपना जन्म-स्थान—बैजेगाँव—छोड़ना पड़ा। वहाँ से धनोपार्जन के लिए ये कानपूर पहुँचे और रामगंज नामक मुहल्ले में रहने लगे। सुनते हैं, इनका मकान नौघड़ा में अभी तक है।

कानपूर आकर पं० संकटाप्रसाद की आर्थिक दशा कुछ-कुछ सुधरने लगी। इनके भाई की स्त्री पं० प्रयागनारायण तिवारी के वंश की थीं। तिवारीजी कानपूर में रहते थे और वहाँ उनका बड़ा नाम था। इस सम्बन्ध के कारण पं० संकटाप्रसाद को कानपूर में रहने में बड़ा सुभीता हुआ। उन्होंने दीवान फतेहचन्द के यहाँ नौकरी करली। कतिपय कारणों से वे वहाँ अधिक दिन

तक न रह सके। हाँ, अपनी ज्योतिष-विद्या के कारण वे धीरे-धीरे प्रसिद्धि प्राप्त करने लगे, धन भी मिला और कुछ रियासत भी उन्होंने पैदा कर ली।

जन्म और शिक्षा

इन्हीं पं० संकटा प्रसाद के घर पं० प्रतापनारायण मिश्र का जन्म आश्विन कृष्ण ६, संवत् १६१३ (सन् १८५६) में हुआ था। बालक प्रताप नारायण बड़ा ही चञ्चल था, किसी एक स्थान पर देर तक न ठहरता। वह मस्त रहता, किसी बात की चिन्ता न करता। उधर ज्योतिषी पिता, पुत्र को भी ज्योतिर्विद् बनाना चाहता था और उसके लिए तदनुकूल शिक्षा का भी प्रबन्ध कर दिया; पर शिशु प्रतापनारायण की मस्त तबियत जन्म-पत्र बनाने और ग्रह-नक्षत्र की गणना करने के झंझट में न फँसी। लाचार होकर पिता ने उसे एक अँगरेजी स्कूल में भर्ती कराया; परन्तु यहाँ भी उस चञ्चल बालक का मन पढ़ने-लिखने और पहाड़े रटने में न लगा। तत्पश्चात् प्रतापनारायण को पिता ने पादरियों के स्कूल में भेजा। वह स्कूल उस समय नयेगंज के पास था, पर अब नहीं है—टूट गया। इस स्कूल में भी स्वतन्त्र-प्रकृति का वह बालक पढ़ने में मन न लगा सका। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके अध्यापक उससे बुरी तरह पेश आने लगे। दण्ड मिलने लगा। बालक इससे और भी घबड़ा गया और अन्त में उसने स्कूल ही छोड़ दिया। अभाग्यवश, इसी समय उसके पिता की मृत्यु हो गई। इस कारण प्रतापनारायण के स्कूली जीवन का अन्त हो गया।

यह बात सन् १८७४ की है। उस समय पं० प्रतापनारायण की अवस्था लगभग १८ वर्ष की थी। स्कूल में अँगरेजी और हिन्दी का साधारण ज्ञान इन्हें हो गया था; परन्तु उन्हें इससे

सन्तोष न हुआ। विद्या से उन्हें बड़ा प्रेम था। स्कूल में भी यही बात थी किन्तु उनकी स्वच्छन्द प्रकृति वहाँ के नियमों का पालन न कर सकी थी। अब उन्होंने, घर पर ही, उर्दू का अभ्यास किया; साथ-साथ फारसी और संस्कृत भी सीखी। थोड़ा-बहुत प्रेम इन्हें बँगला से भी था और उसका भी साधारण ज्ञान इन्हें हो गया।

संक्षेप में, पं० प्रतापनारायण अपने विद्यार्थी-जीवन में किताबी कीड़ा तो न बन सके, पर उनका ज्ञान (General knowledge) काफी विस्तृत हो गया। स्कूल में वे भूगोल या इतिहास की पुस्तकें तो नहीं रट सके, पर लोगों से मिल-जुल कर उन्होंने अनेक बातें सीख लीं। उनका यही अनुभव-जन्य-ज्ञान जीवन में उनके काम आया।

साहित्यिक मित्र

हिन्दी-साहित्य-सेवकों के जिस ढङ्ग के क्लब आज लखनऊ, कानपुर, प्रयाग, बनारस, कलकत्ता, आगरा आदि में दिखाई देते हैं, उसी प्रकार की साहित्यिक मण्डलियाँ १९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में स्थापित हो चली थीं। कानपुर, काशी और कलकत्ता में साहित्यिकों ने अपनी-अपनी गोष्ठियाँ—पाश्चात्य देशों के साहित्यिक क्लब के ढङ्ग की स्थापित कर रक्खी थीं। कानपुर में स्वयं मिश्र जी "ब्राह्मण" का सम्पादन करते थे; पं० ललिता-प्रसाद त्रिवेदी आदि अन्य सज्जन उनकी संस्था के सदस्य समझे जाते थे। काशी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की संस्था थी और कल-कत्ते से "भारत-मित्र" का सम्पादन होता था।

इन साहित्यिक संस्थाओं में आज-कल का सा वैर-भाव नहीं पैदा हुआ था। स्पर्धा अवश्य थी, कभी-कभी शिष्ट हास्य में सवाल-जवाब भी हो जाते थे; परन्तु उनमें साहित्य-सेवा की

शुद्ध-प्रेरणा थी; ईर्ष्या का अभाव था। इसी से एक दूसरे की साहित्य-सेवाओं को विशेष आदर की दृष्टि से देखते और सराहना कर के उत्साह बढ़ाया करते थे। भारतेन्दु की हिन्दी-सेवा पर तो मिश्र जी लट्टू ही थे। हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित "कवि-वचन-सुधा" आदि पत्रिकाएँ पढ़ने से ही उनके हृदय में हिन्दी के लिए प्रेम उत्पन्न हुआ था। इसी से भारतेन्दुजी पर मिश्रजी की बड़ी श्रद्धा थी। भारतेन्दु को अपना पूज्यपाद, उपास्यदेव, गुरु-देव, सभी कुछ मानते थे। दोनों के उद्देश्य और आदर्श में बहुत कुछ समानता थी, पर भारतेन्दु उनके पथ-प्रदर्शक-से थे। कई पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के अतिरिक्त हिन्दी का प्रचार करने और हिन्दी लेखकों को शिक्षा देने और उत्साहित करने के लिए उन्होंने कविता-वर्द्धिनी सभा (स्थापित सन् १८७० में) पेनी-रीडिंग क्लब (स्थापित १८७३ में) आदि संस्थाएँ स्थापित की थीं।

ऐसे भारतेन्दु पर मिश्रजी की भक्ति हो जाना स्वाभाविक ही था। "ब्राह्मण" में भी उनकी बड़ी तारीफ़ की गई थी। मिश्र जी में यद्यपि "कान्यकुब्जों" की ठसक थी; प्रकृति में उद्दण्डता और अहम्मन्यता भी काफी थी, तथापि उन्होंने भारतेन्दु के हाथ तक जोड़े हैं। कुछ लोगों ने उनके इस काम को पसन्द नहीं किया; यही नहीं, उन पर इसके लिए आक्षेप भी किया; पर मिश्रजी ने कभी इस पर ध्यान नहीं दिया। वास्तव में, भारतेन्दु का भक्त होने का उन्हें गर्व भी था। एक बार उन्होंने लिखा था—

"बाजे-बाजे लोग हमें श्रीहरिश्चन्द्र का स्मारक समझते हैं। बाजों का ख्याल है कि उनके बाद उनका-सा रंग-ढंग कुछ इसी में है। हम को स्वयं इस बात का घमण्ड है कि जिस मदिरा का पूर्ण कुम्भ उनके अधिकार में था, उसी का एक प्याला हमें भी

दिया गया है और उसी के प्रभाव से बहुतेरे हमारे दर्शन की देवताओं की भाँति इच्छा करते हैं।"

मिश्र जी की इस श्रद्धा और भक्ति का एक कारण भारतेन्दु की गुण-ग्राहकता भी है। मिश्र जी ने "प्रेम पुष्पावली" नाम की एक पुस्तक लिखी थी। समय की दृष्टि से वह अच्छी चीज थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसकी तारीफ की। इससे मिश्रजी का उत्साह बढ़ा। "हरिश्चन्द्र की आलोचना गोया इनके सुलेखक और सुकवि होने की एक शिला-लिखित सर्टिफिकेट हो गई।" इस बात को इन्होंने कई बार बड़े गर्व से कहा था। हरिश्चन्द्र पर तो उसके बाद से ऐसे लट्टू हुए कि अपनी कई पुस्तकों के आरम्भ में इन्होंने "हरिश्चन्द्राय नमः" लिखा है और भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् "हरिश्चन्द्र-संवत्" लिखा करते थे।

भारतेन्दुजी एक बार सख्त बीमार पड़े; पर भाग्य से शीघ्र ही अच्छे हो गये। यों तो उनके स्वास्थ्य लाभ से समस्त हिन्दी-साहित्य-सेवियों को बड़ी प्रसन्नता हुई, पर मिश्रजी के आनन्द का तो वारापार ही न रहा। उन्होंने उनके स्वास्थ्य लाभ के उपलक्ष्य में एक क़सीदा लिखा था। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

ख्याल आया मुझे दिल में य किसका गुस्ले सेहत है।
कि सारे हिन्द में जिसकी खुशी सबने मनाई है॥
तो मुलहिम ने कहा बाबू हरिश्चन्द्र इसमें पाक उसका।
नहीं मालूम ? जिसकी मदहख्वाँ सारी खुदाई है॥
बनारस की जमीं नाज़ा है जिसकी पायबोसी पर।
अदब से जिसके आगे चर्ख ने गरदन झुकाई है॥
वही महताबे हिन्दुस्तां वही गैरत दिहे नैयर।
कि जिसने दिल से हर हिन्दू के तारीकी मिटाई है॥

वही ईसाए दौरां जिसने हम क़ौमो की हिम्मत की।
हजारों साल पीछे लाशे बोसीदा जिलाई है॥
वही उसने कि उर्दू देवनी के पंजये जुलसे।
वसद तदवीरों हिम्मत जान हिन्दी की बचाई है॥
वही जो आज मालिक है सब इल्मों के खज़ाने का।
वही मुल्के हया खूबी पय जिसकी बादशाही है॥
जिहे यह अफ़ज़लुल फ़ुज़ुला कि आज उसकी शहादत में।
व सिद्के दिल हर एक उस्ताद ने उंगली उठाई है॥
सब उसके काम ऐसे हैं कि जिनको देख हैरत से।
हर एक आकिल ने अपनी दाँत से उंगली दबाई है॥

× × × ×

जहाँ तक कीजिये तौसीफ़ उसकी सब बजा लेकिन।
नहीं उसकी को दाया दूसरों की क्या चलाई है॥
यही बेहतर है कि उसके हक़ में हमदम दुवा माँगे।
यही बस फर्ज अपना है इसी में सब भलाई है॥
खुदाया खुश रहे यह फ़क्ते आलम रोजे महशर तक।
कि जिसकी बाते बा बरकत को वेबा सब बड़ाई है॥

इन पंक्तियों से यह पता लग सकता है कि मिश्रजी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को कितने आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इसी प्रकार भारतेन्दु के अस्त होने पर उन्होंने "शोकाश्रु" नामक एक लम्बी कविता लिख कर "ब्राह्मण" में प्रकाशित की थी। इस विलापात्मक कविता में भारतेन्दु के गुणों का खूब बखान किया गया था। वास्तव में, उनमें गुण भी ऐसे थे। इसी से तो आज भी उनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। अस्तु।

मिश्र जी कलकत्ते के साहित्य-सेवियों का भी सम्मान करते थे। वहाँ से उस समय "भारत-मित्र" का सम्पादन होता था।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पण्डित गोविन्द-नारायण मिश्र, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्री अमृतलाल चक्रवर्ती आदि हिन्दी की उन्नति करने में लगे हुए थे। हिन्दी के इन पक्षपातियों पर उनका श्रद्धाभाव होना भी स्वाभाविक ही था। साथ ही, निरभिमानी और मिलनसार तथा हास्य और विनोद प्रिय होने के कारण, उनके अनेक मित्र थे। हास्यरस के कुशल लेखक और आनन्द (लखनऊ) के सम्पादक पण्डित शिवनाथ शर्मा से भी उनकी खूब पटती थी। मिश्रजी जब लखनऊ आते थे, तब इन्हीं के यहाँ ठहरते थे और शर्माजी, शायद "बालक" में अपने लेख प्रकाशित होने के लिए भेजा करते थे। इसका कारण यही हो सकता है कि दोनों ही हास्यरस के प्रेमी और विनोदी थे।

स्वभाव और चरित्र

पंडित प्रताप नारायण मिश्र का रङ्ग गोरा था। उनकी नाक बड़ी थी और शरीर दुबला-पतला था। वे प्रायः अस्वस्थ रहा करते थे। इसका प्रधान कारण यह था कि उनका आहार-विहार अनियन्त्रित था। उनको अपने शरीर की परवाह ही न रहती थी और न वे शरीर रक्षा के नियमों का पालन करना ही आवश्यक समझते थे। शायद इसी से जवानी में ही उनकी कमर झुक गई थी और थोड़ी ही अवस्था में उनका देहान्त हो गया।

मिश्रजी सिर के बाल बड़े रखना पसन्द करते थे। पर वे हमारे आधुनिक नवयुवकों की तरह उनके बनाव-शृङ्गार में दिन भर नहीं लगाते थे—शायद कभी-कभी ही बनाते थे। उनकी दाढ़ी बड़ी थी और मूछें भी काफी बड़ी थीं। उन्हें अपने इस रूप का घमंड भी था और "सुघर रूप" तक का प्रयोग वे अपने लिए कभी-कभी किया करते थे। पर वास्तव में उनका रूप तो नहीं, हाँ,

स्वभाव अवश्य ही सुन्दर था। उनमें उत्साह था, देश, जाति, धर्म और भाषा के लिए अभिमान था। देशी-वस्तुओं और कपड़ों का वे आदर करते थे। सादगी की वे मूर्ति ही थे। परवाह उन्हें किसी की भी न थी। "आपको न मानै ताके बाप को न मानिए" के वे जबर्दस्त मानने वाले थे। जो उन्हें बुरा लगता था, उसकी वे कड़ी आलोचना करते थे। जब कभी सरकार या म्यूनिसिपैलिटी की ओर से किसी प्रकार का अनुचित कर जनता पर लगाया जाता, तब वे जन-साधारण का पक्ष लेकर "ब्राह्मण" में उसके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा कर देते थे। ढोंगी पंडितों और कनौजियों को तो उन्होंने खूब फटकारा ही था, साथ ही, जिन लोगों ने सुधारक बन कर जनता को ठगना चाहा था, उनकी मिश्रजी ने बड़ी दुर्गति की थी। उनके स्वभाव में स्वच्छन्दता अधिक थी। स्वच्छन्द विचारों के कारण ही बचपन में उन्हें मिशन स्कूल छोड़ना पड़ा। वहाँ एक पादरी शिक्षक था। हिन्दू धर्म के विरुद्ध उसने कुछ बातें कहीं। अन्य विद्यार्थी तो सब कुछ सुन कर भी चुप रहे, पर मिश्रजी से न रहा गया और उसे मुँह तोड़ जवाब देकर आप घर वापिस चले आये।

मिश्रजी, वास्तव में बड़े मौजी जीव थे; जो मन में आता, वही करते। अपने मित्रों के खुशामद करने पर भी, वे कभी उनके घर न जाते; पर कभी-कभी बे बुलाए ही पहुँच जाते और दिन-दिन भर पड़े रहते। अपने मित्रों की वे गोरामाली भी किया करते थे; सम्भव है, वे भी इनके साथ वैसा ही बर्ताव करते हों। वे आलसी भी बड़े थे। उनके कमरे में कूड़ा पड़ा रहता, अखबार चिट्ठियाँ, बिखरी पड़ी रहतीं। मिश्रजी को उनके बीच मे बैठे रहना तो कबूल था, पर हाथ हिला कर-उन्हें उठाना और साफ करना नहीं। उनके मित्रों को कभी-कभी यह गन्दगी बहुत बुरी लगती थी और वे स्वयं ही उसे साफ किया करते थे।

वे बड़े दिल्लगीबाज थे। होली मे कबीरें गाते फिरते थे। एक बार एक दूकानदार को बनाने लगे। वह बहुत नाराज हुआ; पर ज्यों-ज्यों उसका क्रोध बढ़ता गया त्यों-त्यों इनकी कबीरें भी जोरदार होती गईं। शहर का कोतवाल उस दूकानदार का मित्र था। उससे उसने मिश्रजी की शिकायत की। कोतवाल ने मिश्र जी से सब बात कह दी। दूसरे दिन पण्डित प्रतापनारायण मिश्र नम्रता और विनय की मूर्ति बने उसकी दूकान पर पहुँचे और इस ढंग से आपने दूकानदार से माफी माँगी कि सभी को हँसी आ गई—स्वयं दूकानदार भी हँसने लगा। दूसरी बार की बात है कि एक त्रिपाठी जी उनसे मिलने आये। मिश्र जी ने उनके जलपान के लिए नौकर से जान कर जलेबियाँ मँगाईं। पर जब नौकर नाश्ता लाया, तब आप बनावटी क्रोधित स्वर मे बोले—जानता नहीं, त्रिपाठीजी अन्न की मिठाई नहीं खाते। बेचारा नौकर सकपका गया।

पादरियों से तो उन्हें खास तौर मे एक प्रकार की घृणा थी। वे लोग शहर के भोले भाले लोगों को धर्म से च्युत करने को भाँति-भाँति के लालच दिया करते थे। मिश्रजी इसका बड़ा विरोध करते थे। एक दिन एक पादरी ने उन्हे लज्जित करने के लिए पूछा—आप गाय को माता कहते हैं ?

'जी हाँ !' मन-ही-मन कुछ क्रोधित होकर उन्होंने कुछ दिल-चस्पी लेते हुए उत्तर दिया।

पादरी ने मन-ही-मन प्रसन्नता का अनुभव करते हुए हँसी दबा कर पूछा—'तो बैल को पिता कहते होंगे ?'

मिश्र जी उसका आशय कुछ-कुछ समझ गये, पर सावधानी और धैर्य से उत्तर दिया—'जी हाँ, बेशक।'

पादरी मुस्करा दिया; बड़ी लापरवाही दिखाते हुए उसने पूछा—'पर उस दिन तो मैंने एक बैल को मैला खाते देखा था ?'

चारों ओर खड़े हुए लोग मिश्रजी की ओर ताकने लगे। पण्डितजी ने भी एक बार उनकी ओर देखा; फिर पादरी की ही 'टोन' में लापरवाही दिखाते हुए कुछ शीघ्रता से उत्तर दिया—'साहब, वह बैल ईसाई हो गया होगा। हमारे समाज में ऐसे भी बहुत से बैल हैं।'

लोग अट्टहास कर हँस पड़े। पादरी साहब लज्जित हो गये।

मिश्रजी को नाटक का भी बड़ा शौक था। वे प्रायः नाटक में पार्ट किया करते थे। एक बार उन्हें स्त्री का पार्ट करना था। इसके लिए मूँछें मुड़वाना आवश्यक था। अतः आप अपने पिताजी के पास जाकर रिहर्सल-सा करते हुए विनीत भाव से विनय के स्वर में परिस्थिति समझाते हुए बोले—यदि आज्ञा हो तो इन्हें मुड़वा दूँ। मुड़वाना जरूरी है?

पिता ने हँस कर आज्ञा दे दी।

मिश्र जी को किसी प्रकार का, सुनते हैं, व्यसन न था। हाँ, वे नास अवश्य सूँघा करते थे और वह भी दिन भर।

मिश्र जी ने अपनी तारीफ भी की है। संगीत शाकुन्तल में उन्होंने लिखा है—

> "कौसिक-कुल-अवतंस श्री, मिश्र संकटादीन।
> जिन निज बुधि-विद्या-विभव, वंश प्रशंसित कीन॥१॥
> तासु तनय 'परतापहरि', परम रसिक बुधराज।
> 'सुघर रूप', सत कवित बिन, जिहि न रुचत कछु काज॥२॥
> प्रेम परायन सुजन प्रिय, सहृदय नवरस-सिद्ध।
> निजता निज-भाषा-विषय, अभिमानी परसिद्ध॥३॥
> श्री मुख जासु सराहना, कीन्हीं श्री हरिश्चन्द।
> तासु कलम करतूति लखि, लहैं न को आनन्द॥४॥"

वास्तव में यह आत्म-श्लाघा नहीं है, जैसा लोग समझते हैं। बात यह है कि कविता-समाजों की स्थापना के कारण उनके

समय मे, इस प्रकार का पद्यात्मक परिचय देना प्रचलित हो गया था। मिश्रजी ने भी इसी प्रचलित परिपाटी का अनुसरण किया। हाँ, इन पंक्तियों के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मिश्रजी की प्रसिद्धि इस प्रकार की परिचयात्मक 'आत्म-श्लाघा' से बढ़ती नहीं। उनके कार्य ही उनकी ख्याति के लिए काफी हैं, फिर इसकी आवश्यकता ही क्या थी। यह तो समाज का दुर्भाग्य समझना चाहिए कि थोड़ी ही अवस्था में उनका देहान्त हो गया। अन्यथा उनसे जाति, समाज और साहित्य का बड़ा उपकार होता।

उद्देश्य

पं० प्रतापनारायण मिश्र के समय में हिन्दी-भाषा की उन्नति तो नहीं हुई थी, पर हिन्दी की उन्नति करने की ओर लोग सचेत हो कर अग्रसर हो रहे थे। हिन्दी-भाषा-भाषियों में से कुछ लोगों ने यह समझ लिया था कि यदि अपनी सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थिति सुधारना है, तो हिन्दी-भाषा की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करना चाहिए।

इन लोगों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मुख्य थे। उनका उद्देश्य भी हिन्दी-सेवा करना था; किन्तु उनकी साहित्य-सेवा पर राष्ट्रीय भावों का प्रभाव अधिक था। इसके विपरीत, मिश्रजी के हृदय में सामाजिक और धार्मिक सुधार करने की इच्छा प्रबल थी। धार्मिक-सुधारों का कारण, यही समझ में आता है, जन-साधारण का अपना धर्म छोड़ कर पादरियों के चक्कर में पड़ जाना था। ये लोग उस समय, अपनी धार्मिक पुस्तकें बांटते फिरते थे। उनके बहकाने और कभी-कभी डराने-धमकाने मे आकर हिन्दू-जनता अपने धर्म से च्युत हो रही थी। सामाजिक-सुधारों का कारण कुरीतियाँ थीं। हिन्दू-समाज पर विदेशियों का प्रत्यक्ष

प्रभाव पड़ रहा था। हिन्दुओं की रहन-सहन, वेश-भूषा, चाल-ढाल, सब विदेशी ढंग की होती जा रही थी। दूसरी ओर समाज के अन्तर्गत, अधिकांश हिन्दुओं में अन्ध-विश्वास फैला हुआ था और कुछ लोग बड़ी धाँधली मचा रहे थे। मिश्रजी का साहित्य-सम्बन्धी उद्देश्य उनके इस कथन से ही प्रकट हो जाता है—

"आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का करकट (उर्दू) छाती का पीपल हो रही है, अब यह चिन्ता खाये लेती है कि कैसे इस से पीछा छूटे।"

मिश्रजी ने "उर्दू से पीछा छुड़ाने" के लिए सरल और रोचक भाषा का आश्रय लिया, क्योंकि वे जनता के हृदय में हिन्दी के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न करना चाहते थे। इस कार्य में सफल होने के लिए उनके पास दो ही मार्ग थे। पहला, उर्दू के दोष दिखाना। इससे उर्दू के लिए घृणा-भाव पैदा होता। दूसरा, हिन्दी को ऐसा रूप देना जिससे जनता का ध्यान स्वयं उसकी ओर आकृष्ट हो जाय और उर्दू का बहिष्कार कर हिन्दी को अपना ले। मिश्रजी ने दूसरे मार्ग पर चलना शुरू किया, क्योंकि यह अपेक्षाकृत सरल था। दूसरा कारण यह भी था कि भारतेन्दु और उनके समकालीन अन्य हिन्दी-साहित्य-सेवी भी इसी को अपना रहे थे। उन्होंने समझ लिया था कि हिन्दी को उर्दू के शिकंजे से निकालने का कार्य, एक दम उर्दू का बायकाट कर देने से नहीं हो सकता; वरन् उर्दू को थोड़ा-बहुत अपना कर ही हम अपने प्रयत्न में सफल हो सकते हैं।

सामाजिक विचार

मिश्रजी के समय में कई प्रकार के सामाजिक आन्दोलन हो रहे थे। वे प्रायः उन सभी के पक्ष में थे। हिन्दू-समाज में जितनी भी

बुराइयाँ उन्हें दिखाई देती थीं, वे उन सभी को दूर करना चाहते थे। स्वयं वे स्वतन्त्र प्रकृति के थे; किसी प्रकार के सामाजिक बन्धन में बँधना उनके लिए असह्य था। पाखण्ड और दिखावे (Formality) से वे घृणा करते थे। स्पष्टवादी वे इतने थे कि स्वयं कनौजिया ब्राह्मण होने पर भी उन्होंने अपनी जाति में फैलने वाली कुरीतियों को छिपाने की कभी चेष्टा नहीं की। जब-जब उन्हें अवसर मिला, वे जाति के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कर्णधारों पर छींटा फेंका करते थे। "ककराष्टक" शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है—

"का खा गा घा हूँ बिन पढ़े तिरबेदी पदवी धरन।
कलहप्रिय जियत कनौजिया, भारत कँह गारत करन॥"

एक लेख में इन्होंने कान्यकुब्जों की उत्पत्ति के विषय में मजाक करते हुए लिखा है—

"इनकी पैदाइश विराट भगवान के मुख से है और मुख ऐसा स्थान है, जहाँ थूक भरा रहता है। फिर जो थूक के ठौर से जन्मेगा, वह कहाँ तक थुकैलापन न करेगा।"

एक बार "फक्कड़ और भंगड़" शीर्षक एक कथोपकथन इन्होंने लिखा। यह ब्राह्मण में प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने अपने सगे-सम्बन्धी पर ही आक्रमण किया था। इस पर उनके सम्बन्धी महाशय खूब बिगड़े। पर मिश्रजी को इसकी क्या चिन्ता थी। वे तो कहा करते थे—

"आँकु न जानैं संसकरिति को लेहुँ न गायत्री को नाउँ।
तिनका आरज कैसे कहिये, मैं तौ हिंदू कहत लजाउँ॥"

उस समय कोट-पैंट पहन कर ईसाई बनने का रिवाज नया ही चला था। मिश्रजी को इससे बड़ी चिढ़ थी। ऐसे लोगों पर आक्रमण करते हुए "तृप्यंताम" शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा—

"शिर ते पग लगि कारे कपरे शुद्ध आसुरी भेष तमाम।
भाषा औरौ मधुर आसुरी किट-पिट गिट-पिट औ यू ड्याम॥
भोजन अधिक आसुरी जिनमें बूझि न परै हलाल हराम।
ऐसे असुरनती हिन्दुन सों होहु न आसुरी तृष्यन्नाम॥"

इसी प्रकार के बहुत से उदाहरण हैं। सच पूछिए तो उनकी समस्त रचनाएँ ही ऐसी हैं, जिनमें किसी न किसी सामाजिक बुराई की ओर संकेत किया गया है, कभी-कभी उसे दूर करने का उपाय भी उन्होंने बतलाया है। संक्षेप में, जिस परिस्थिति में मिश्रजी का जन्म हुआ था, उनके विचार उस समय के से न थे। वे छुआछूत, खान-पान, जाति-पाँति के सभी दुर्गुणों का विरोध करते थे। वे भली-भाँति जानते थे कि एक ओर तो ये कुरीतियाँ हमारी उन्नति में बाधा डालती हैं और दूसरी ओर, इनकी आड़ में धर्म की बड़ी छीछालेदर की जाती है।

धार्मिक-सिद्धांत

मिश्रजी धार्मिक रूढ़ियों की भी परवाह न रखते थे। उनका जन्म एक सनातन हिंदू-धर्मावलंबी के घर हुआ था। इससे यह स्वाभाविक था कि उनकी प्रवृत्ति इस ओर झुक जाय। हुआ भी ऐसा ही। पर उन्हें किसी भी धर्म से घृणा न थी। वे मौजी जीव थे; कभी आर्य-समाज में जाते और कभी ब्रह्म-समाज में। उनके धार्मिक-सिद्धांत को प्रो० रमाकांत जी त्रिपाठी एम० ए० ने बड़े सुन्दर ढंग से इन शब्दों में समझाया है—

"मतमतांतरों के वितंडावाद को वे कोरी बकझक समझते थे। धर्म के नाम पर जो नित्य व्यर्थ के आडंबर रचे जाते हैं, उनके प्रति वे घृणा रखते थे। मतवादियों के लिए तो वे कहा करते थे—"वे अवश्य नरक जायँगे।" इस शीर्षक के लेख में वे कहते हैं—

'एक पुरुष ईश्वर की बड़ाई के कारण उसे अपना पिता मानता है, दूसरा उसके प्रेम के मारे उसे अपना पुत्र कहता है। इसमें दूसरे के बाप का क्या इजारा है।'

"वे संगठित रूप में सामुदायिक, धार्मिक सिद्धांतों के विरोधी हैं। ये यह नहीं पसंद करते कि किसी धार्मिक संस्था के द्वारा समस्त समाज को एक ही प्रकार के धार्मिक-सिद्धांत ग्रहण करने के लिए बाधित किया जाय। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मानसिक प्रवृत्ति के तद्रूप अपना धर्म ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि वास्तव में, प्रत्येक व्यक्ति की भावनाएँ अपने-अपने सांसारिक अनुभवों के हिसाब से बिलकुल अलग होती हैं और जिन प्रवृत्तियों से उसका जीवन प्रभावित हो, वही उसका धर्म है।"

"भिन्न-भिन्न मतावलंबियों के अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने की तथा दूसरों को हेय समझने की, जो आदत होती है उस पर मिश्रजी बड़ी मजेदार टीका करके मतांतरमात्र को अनावश्यक सिद्ध करते हैं—

'यदि वेद, बाइबिल और कुरानादि की एक प्रति अग्नि तथा जल में डाल दी जाय, तो जलने अथवा गलने से कोई न बचेगी। फिर एक मत वाला किस शेखी पर अपने को अच्छा और दूसरे को बुरा समझता है।'

एवं, 'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां' के वे मानने वाले थे।

यह देख कर आश्चर्य होता है कि प्रतापनारायणजी आर्य-समाज के वास्तविक महत्व को खूब समझ गये थे और आज-कल लोग जिस श्रद्धा पूर्ण दृष्टि से उसके कार्य को देखते हैं, उसको उन्होंने इतने समय पूर्व ही देख लिया था। उनकी सी व्यापक दृष्टि उस 'रिंद' (मस्त) के लिए बिलकुल स्वाभाविक थी जो धर्म को "मकड़ी का जाला" कहता था और जो ईश्वर-प्रार्थना करते समय यह मंत्र जपता था—

'गमय दूरे शुष्क ज्ञानं
कुरुत प्रेम-प्रमाद-दानम्'

संसार के बड़े-बड़े सन्तों तथा भक्तों ने मस्ती में रंगे हुए जिस *तल्लीनता अथवा आनन्दातिरेक का अनुभव करने के लिए शुष्क* तत्त्वज्ञान का तिरस्कार किया है, ठीक उसी 'रिंदी' का उपदेश मिश्रजी ने अपने लेखों में दिया है।

'दिल और दिमाग़' ये ही समस्त सांसारिक ज्ञान के प्राप्त करने के दो उपकरण हैं। किसी को दिमाग़ की विवेचना शक्ति ही पर अधिक भरोसा रहता है, जैसे तत्त्वज्ञानी लोग। इसके प्रतिकूल, जो स्वभावतः मस्त तबियत के होते हैं, उन्हें कोरी दार्शनिक क्रीड़ा में मज़ा नहीं आता। वे अपनी सहृदयता की मात्रा बढ़ाते हुए उसी के द्वारा सांसारिक जीवन को आनन्दमय बनाने में निरन्तर लीन रहते हैं। ऐसे ही आनन्दी जीवों के हाथ से प्रत्येक युग में सर्वोत्कृष्ट साहित्य तथा कला का जन्म होता है और उन्हीं के प्रभाव से विश्व की जीवन धारा प्रवाहित रहती है। रूखे दिमाग़ी ज्ञान का उपार्जन करने में अपनी सारी शक्तियाँ केन्द्रित करने वालों की अन्त में उपेक्षा की जाती है, क्योंकि ऐसे नीरस-ज्ञान से मानव-हृदय को कभी सच्ची शान्ति नहीं मिलती।

'सोने का डंडा और पौंड़ा' शीर्षक लेख में मिश्रजी ने इसी तथ्य का मार्मिक विवेचन किया है। 'सोने का डंडा' शुष्क ज्ञान का द्योतक है जो देखने में बड़ा मनमोहक होता है, किन्तु जिससे किसी की आत्मा को वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती। पौंड़े से अभिप्राय है हार्दिक रसीलापन।*

---

* इस सम्बन्ध में Tennyson की प्रसिद्ध Palace of Art पढ़ने लायक है।

महाकवि सूरदास ने अपने 'भ्रमरगीत' में उद्धव और गोपियों में जो ज्ञान और भक्ति विषयक बातचीत कराई है, उसका भी सारांश यही है।

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में किसी न किसी समय किसी न किसी रूप में ऐसी मानसिक अवस्था का अवश्य अनुभव करता है, जिसमें उसे ज्ञान और भक्ति के प्रतिद्वन्दी भावों का पारस्परिक संघर्ष होता प्रतीत होता है। जिनमें अधिक मनोबल होता है, वे शीघ्र इस द्वन्द्व-युद्ध का निपटारा कर लेते हैं, पर निर्णय हमेशा भक्ति अथवा हार्दिक प्रवृत्तियों के पक्ष में होता है। संत तथा हिंद अन्य साधारण लोगों की अपेक्षा इस मस्ती अथवा तल्लीनता पर अटल रहते हैं और सांसारिक विषयों की ओर उनकी समदृष्टि रहती है। इस श्रेणी में बड़े मसखरे लोग, कविगण तथा अन्य कलाकोविद सम्मिलित होने चाहिए। इसी मानसिक स्थिरता अथवा औदार्य को प्रतापनारायणजी अपने भावपूर्ण शब्दों में यों प्रकट करते हैं—

"जहाँ तक सहृदयता से विचार किजिएगा, वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे सिर-पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहिन है। ईश्वर का तो पता लगाना ही कठिन है।"

हद हो गई हिंदी की! दुनिया के किसी तजुर्बे को और धर्म के किसी तत्व को तौलने की कितनी अच्छी कसौटी है! 'एकै आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय' वाली बात है।

इसी मस्ती की तरंग में आकर मिश्रजी ने 'मदिरा की बहुत कुछ तारीफ कर डाली है। कुछ लोगों को केवल इसी सूफ़ियाना ढङ्ग से की गई प्रशंसा के कारण यह भ्रांति हो गई है कि प्रताप नारायणजी मदिरा-सेवक थे। यह धारणा ऐसी ही निर्मूल है,

जैसी कि चोरी का दृश्य वर्णन करने वाले किसी कहानी-लेखक अथवा नाटककार को चोर समझने की।‡

देश-प्रेम

मिश्रजी के समय में राष्ट्रीय आन्दोलन होने लगे थे। कुछ समय पश्चात् कॉंग्रेस का जन्म हुआ। उसके जन्मदाता ह्यूम साहब को ये बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। कॉंग्रेस के उद्देश्यों से उनकी सच्ची सहानुभूति थी और देश की परिस्थिति को देखते हुए वे ऐसी संस्था को बहुत ही आवश्यक समझते थे। यहाँ तक कि कॉंग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में सम्मिलित होने का वे भरसक प्रयत्न करते थे। मद्रास और इलाहाबाद में होने वाले कॉंग्रेस के अधिवेशनों में वे कानपुर के प्रतिनिधि की हैसियत से गये भी थे।

देश की वस्तुओं का हम लोग आदर नहीं करते, मिश्रजी इसी को देश की अवनति का प्रधान कारण समझते थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

"देशी कारीगरी को देश ही वाले नहीं पूछते। विशेषतः जो छाती ठोक-ठोक कर ताली बजवा-बजवा कर, कागज के तख्ते रँग-रँग कर देशहित के गीत गाते फिरते हैं, यह और भी देशी वस्तु का व्यापार करना अपनी शान से बईद समझते हैं।" यही भाव इन पंक्तियों में भी झलकता है—

> "देशी वस्तु विहाय विदेशिन सों सर्वस्व ठगाते।
> मूरख हिन्दू फस न लहँ दुख जिनकर यह ढँग दीठा;
> घर की खाँड़ खुरखुरी लागै, चोरी का गुड़ मीठा॥"

---

‡ प्रताप पीयूष। पृ० ११-१७

"दु" शीर्षक एक लेख उन्होंने लिखा था। उसमें बड़े मार्मिक ढंग से उन्होंने सुझाया है—

"जिस भारत-लक्ष्मी को मुसलमान सात सौ वर्ष में अनेक उत्पात कर के भी न ले सके, उसे उन्होंने (अँगरेज बहादुरों ने) सौ वर्ष में ही धीरे-धीरे ऐसे मजे के साथ उड़ा लिया कि हँसते-खेलते विलायत जा पहुँची।"

इस भारत-लक्ष्मी को वे विदेश में जाने से रोकना चाहते थे। इसका उपाय उन्होंने यही बतलाया कि हम सभी देशी-वस्तुओं का आदर करें। इस बात पर अमल करने के लिए वे प्रायः कानपुर की जनता को उत्तेजित और उत्साहित भी किया करते थे। देश को परतन्त्र देख कर उन्हें बड़ा दुःख होता था। "होली है अथवा होरी है" शीर्षक कविता में उनका हृदय देखिए—

सब के मुख सुनियत घर बाहर होली है भइ होली है॥
याहू अवसर देश दशा की सुख-दुख देति अतीली है।
सब प्रकार सों देखि दीनता लगति हिए जनु गोली है॥
दिन-दिन निरबल, निरधन, निरयस होति प्रजा अति भोली है।
हाय कौन सुख देखि समुझिये अजहू हमारे होली है॥

हिन्दी-प्रेम

राष्ट्रीय आन्दोलन से ही हिन्दी-भाषा और देव नागरी लिपि के प्रचार के आन्दोलन का जन्म हुआ। मिश्रजी हिन्दी के बड़े हिमायती थे। यद्यपि वे स्वयं कभी-कभी उर्दू में कविता किया करते थे, तथापि उर्दू को वे बहुत आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे और "उर्दू बीबी की पूँजी" शीर्षक लेख में तो उन्होंने यहाँ तक लिख मारा है कि 'उर्दू की वास्तविक पूँजी यदि विचार से देखा जाय तो 'आशिक', 'माशूक', 'बाग', 'बुलबुल', 'सैयाद', 'शराब' 'साक़ी' बस इतनी ही बातें हैं, जिन्हें उलट-फेर के वर्णन किया

करो, आप बड़े अच्छे उर्दू-दाँ हो जायँगे। हमारे एक मित्र का वाक्य कितना सच्चा है कि और सब विद्या हैं, यह अविद्या है। जन्म भर तक पढ़ा कीजिए, तेली के बैल की तरह घूमते रहोगे।"

हमें आश्चर्य है कि उन्होंने ऐसा लिखा कैसे, जब वे स्वयं उर्दू में अच्छी-अच्छी गजलें और शेरें लिखा करते थे। शायद इसका कारण यह हो कि वे मौजी जीव थे, कवि थे।

पर उन्हें हिन्दी से प्रगाढ़ प्रेम था। एक बार 'फतेहगढ़ पञ्च' ने उनके हिन्दी प्रेम पर आक्षेप करते हुए हिन्दी में ही दोष दिखाये इस पर मिश्रजी बहुत ही नाराज हुए और उन्होंने 'पञ्च' की, दलीलों का बड़ी योग्यता से खंडन किया। स्वभाषा और स्वदेश की तरङ्ग में उन्होंने जो कविता लिखी थी, उसका एक नमूना इस प्रकार है—

"चहहु जो साँचहु निज कल्यान, तो सब मिल भारत-सन्तान,
जपहु निरन्तर एक जबान, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥१॥
धनि है वह धन धनि वे प्रान, जो इन हेतु हौंय कुरबान,
यही तीन सुख सुगति निधान, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥२॥
सरबसु जाय दीजिए जान, सब कुछ सहिए बनि पाखान,
पै गहि रहिए प्रेम प्रन ठान, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥३॥
तबहिं सुधरिहै जनम निदान, तबहिं भला करिहैं भगवान,
जब रहि है निसदिन यह ध्यान हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥४॥
जिन्हें नहीं निजता को ज्ञान, वे जन जीवत मृतक समान,
याते गहु यह मंत्र महान, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥५॥

गो-रक्षा

गोरक्षा के लिए जो आन्दोलन उनके समय में हो रहा था, उसके प्रति उनकी हार्दिक प्रेरणा थी। अन्य सज्जन भी उन्हीं की भाँति गो-सेवा करना चाहते थे, गोशाला खोलने के लिए अनेक

सभाएँ करते थे। पर यह सब सेवा-भाव केवल दिखाने के लिए ही रहता था। इनके दिल में सच्ची लगन न थी; बहुतेरे समाज और धर्म-सुधारकों की तरह इसमें भी उनका स्वार्थ था। नतीजा यह होता कि गोशाले ठंडे हो जाते और गो-हत्या बढ़ने लगती। इसका कारण सुझाते हुए मिश्रजी ने ऐसे सुधारकों को फटकारने के लिए लिखा—

"गऊ रच्छिनी कठिन काम है, नाहीं खेल लरिकवन क्यार।
दिन भर बारन के ऐंछैया, नहिं करतूत दिखावन हार॥"

समस्त हिन्दू जाति को उसका कर्तव्य सुझाते हुए उन्होंने गो-रक्षा-विषयक एक कविता लिखी। यह आल्हा छंद में है। इसका उदाहरण देखिये—

"गैया माता तुमका सुमिरौं, कीरति सबसे बड़ी तुम्हारि;
करौ पालना तुम लरिकन कै, पुरिखन बैतरनी देउ तारि।
तुम्हरे दूध-दही की महिमाँ, जानैं देव पितर सब कोय;
को अस तुम बिन दूसर जेहिका गोबर लगे पवित्तर होय॥१॥
जिनके लरिका खेती करिकै, पालैं मनइन के परिवार;
ऐसी गाइन की रच्छा माँ जो कुछु जतन करौ सो थ्वार।
घास के बदले दूध पियावैं, मरिकै देंय हाड़ और चाम;
धनि वह तन मन धन जो आवै, ऐसी जगदम्बा के काम॥२॥
आल्हाखंड की पोथी लैके, शाखौं तनुक लिखा कस आय;
जहाँ रोसैयाँ है ऊदन कै, भूखा मुगुल पछारै गाय।
को अस हिन्दू ते पैदा है, जो अस हाल देखि एक साथ;
रकत के आँसुन रोय न उठि है, माथे पटकि दुहत्था हाथ॥३॥

—कानपुर महिमा।

एक बार एक स्वामीजी के साथ वे कन्नौज गये थे। वहाँ गो-रक्षा पर इन्होंने एक व्याख्यान दिया था। उस समय इन्होंने एक लावनी पढ़ी थी। इसका आरम्भ यों है—

"बाँ-बाँ करि तृणि दाबि दाँत सों, दुखित पुकारत गाई है।"

कहते हैं, जिस समय भरी सभा में यह लावनी गाई गई, उस समय सब की आँख से आँसू बहने लगे। मुसलमान भी पिघल गये; कई कसाइयों ने तो उसी समय से गो-वध न करने की कसम खा ली। अपने लिए तो मिश्रजी ने यहाँ तक लिखा है—

"जब सुधि आवै मोहिं गैयन की, नैनन बहै रकत की धार"

"ब्राह्मण"

अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए पं० प्रतापनारायण मिश्र को "ब्राह्मण" नाम का पत्र निकालने की आवश्यकता पड़ी। यों उस समय बाबू हरिश्चन्द्र की "कवि-वचन-सुधा" नाम की पत्रिका भी अच्छी निकल रही थी, पर उससे मिश्रजी का मतलब पूरा होने की सम्भावना न थी। इसका प्रधान कारण उनके और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उद्देश्यों में अन्तर का होना था। एक दूसरा कारण यह भी था कि "कवि-वचन-सुधा" में प्रायः कविता ही अधिकतर छपा करती थी।

"ब्राह्मण" के पहले अङ्क में पं० प्रतापनारायण मिश्र ने पत्र के उद्देश्य लिखे थे। यह लेख छोटा ही है; पर उसकी मुख्य बातें हम यहाँ पर देते हैं। उन्होंने लिखा है—

"हम गुणी हैं या औगुणी यह तो आप लोग कुछ दिन में जान ही लेंगे; पर यह जान रखिये कि भारतवासियों के लिये क्या लौकिक, क्या पारलौकिक मार्ग का एक मात्र अगुआ हम और हमारे थोड़े से समाचार-पत्र भाई ही बन सकते हैं। कानपुर इतना बड़ा नगर अनेक सहस्रावधि मनुष्यों की बस्ती, पर नागरी-पत्र जो हिन्दी रसिकों का एक मात्र मन बहलाव, देशोन्नति का सर्वोत्तम उपाय, शिक्षक और सभ्यता-दर्शक, कलयुग ध्वजा यहाँ एक भी नहीं। भला यह हमसे कब देखी जाती है?

"...... । अन्तःकरण से वास्तविक भलाई चाहते हुए सदा अपने यजमानों (ग्राहकों) का कल्याण करना ही हमारा मुख्य कर्म होगा । हम निरे मत-मतान्तर के झगड़े की बातें कभी न करेंगे कि एक की प्रशंसा हो, दूसरे की निन्दा हो । वरंच वह उपदेश करेंगे जो हर प्रकार के मनुष्यों को मान्य, सब देश-काल में साथ हों, जो किसी के भी विरुद्ध न हो । वह चाल-ढाल व्यवहार बतावेंगे, जिनसे धन-बल, मान-प्रतिष्ठा में कोई भी बाधा न हो । कभी राज-सम्बन्धी, कभी व्यापार सम्बन्धी विषय भी सुनावेंगे, कभी-कभी गद्य-पद्य मय नाटक से भी रिझावेंगे । इधर-उधर के समाचार तो सदा देवेंगे ही ।...... । हमको निरा *ब्राह्मण ही न समझियेगा । जिस तरह सब जहान में कुछ हैं,* हम भी अपने गुमान में कुछ हैं ।"

इस अवतरण से मिश्रजी का उद्देश्य प्रकट हो जाता है । "ब्राह्मण" में पहले सामाजिक लेख ही अधिकतर प्रकाशित होते थे । जन-साधारण को समझाने और रिझाने के लिए मिश्रजी अपनी भाषा सरल और साधारण रखते थे । इसमें हास्य की मात्रा कुछ अधिक होती थी । इस समय के लेखों में 'कलिकोप', 'किस पर्व में किस की चनि आती है', 'किस पर्व में किस पर आफत आती है', 'मतवादी अवश्य नरक जायँगे', 'होली है', 'ककराष्टक', 'नारी', 'देव मन्दिरों के प्रति हमारा कर्त्तव्य' आदि प्रसिद्ध हैं ।

आगे चल कर उन्होंने "ब्राह्मण" की रीति-नीति में कुछ परिवर्तन करना चाहा । "हमारी आवश्यकता" शीर्षक लेख में एक बार उन्होंने लिखा—

"जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने बहुत से पढ़ लिये । यद्यपि इनमें भी बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती हैं; पर वाग्-जाल में फँसी हुई ढूँढ़ निकालने योग्य । अतः अब हमारा विचार

है कि कभी-कभी ऐसी बातें भी लिखा करें, जो इस काल के लिए प्रयोजनीय हैं, तथा हास्यपूर्ण न होके सीधी सादी-भाषा में हों। हमारे पाठकों का काम है कि उन्हें नीरस समझ कर छोड़ न दिया करें तथा केवल पढ़ ही न डाला करें, वरंच उनके लिए तन से, धन से, कुछ न हो सके तो वचन ही से यथावकाश कुछ करते भी रहें।"

इस उद्धरण से प्रकट होता है कि हिन्दू-जनता के हृदय में हिन्दी के लिए कुछ प्रेम अवश्य उत्पन्न हो चुका था और मिश्रजी उसका संस्कार करना चाहते थे। उनका उद्देश्य अब यह नहीं था कि अपने पाठकों को केवल हँसाने और रिझाने की ही चेष्टा की जाय; वरन् वे अब उनका नैतिक और साहित्यिक उत्थान करना चाहते थे।

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए। "ब्राह्मण" में कुछ साहित्यिक निबन्ध तो प्रकाशित होने लगे; परन्तु उनकी भाषा में विशेष गंभीरता न आ सकी। इस समय भी उनकी भाषा हास्य और व्यंग्य से पूर्ण होती थी। उनके साहित्यिक-निबन्धों में 'आयु', 'युवावस्था', 'भौं', 'धोखा', 'बातचीत', आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

इतना होने पर भी जनता ने "ब्राह्मण" का विशेष आदर न किया; यहाँ तक कि उसके सौ ग्राहक भी न रहे और मिश्रजी को लगभग साढ़े सात सौ की हानि उठानी पड़ी। अन्त में उसके बन्द होने की भी नौबत आ गई। अन्तिम अङ्क में "ब्राह्मण की अन्तिम विदा" शीर्षक एक लेख लिखा। उसमें मिश्रजी लिखते हैं—

'दरो दीवार पै हसरत से नजर करते हैं।
खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं॥'

'परम गूढ़ गुण, रूप, स्वभावादि सम्पन्न प्रेमदेव के पद-पथ को बारम्बार नमस्कार है कि अनेकानेक विघ्नों की उपस्थिति में भी उनकी दया से ब्राह्मण ने सात वर्ष तक संसार की सैर कर ली, नहीं तो कानपूर तो वह नगर है जहाँ बड़े-बड़े लोग बड़ों बड़ों की सहायता के आछत भी कभी कोई हिन्दी का पत्र छः महीने भी नहीं चला सके और न आसरा है कि कभी कोई एतद्विषयक कृतकार्यत्व लाभ कर सकेगा क्योंकि यहाँ के हिन्दू समुदाय में अपनी भाषा और अपने भाव का ममत्व विधाता ने रक्खा ही नहीं। फिर हम क्यों कर मान लें कि यहाँ हिन्दी और उसके भक्तजन कभी सहारा पावेंगे ? ऐसे स्थान पर जन्म लेके और खुशामदी तथा हिकमती "ब्राह्मण" देवता इतने दिन तक बने रहे, सो भी एक स्वेच्छाचारी के द्वारा संचालित होके, इसे प्रेम-देव की आश्चर्य लीला के सिवा क्या कहा जा सकता है।'

इस सूचना के लगभग पाँच महीने पहले उन्होंने "ब्राह्मण" में "तृप्यन्ताम" शीर्षक एक बहुत लम्बी-चौड़ी कविता लिखी थी। उसके अन्त में ही उन्होंने "ब्राह्मण" को बन्द करने का विचार जनता के सामने रख दिया था। उन्हें आशा थी कि सम्भव है, हिन्दी-प्रेमी और कानपुर के सज्जन उसके प्रति कर्त्तव्य पहचान सकें; पर हिन्दी के दुर्भाग्य से ऐसा न हुआ। लोगों ने उनके कथन को एक कान से सुना और दूसरे से निकाल दिया। "ब्राह्मण" की वह सूचना इस प्रकार है—

'जिन्हें ब्राह्मण-का जीवन न रुचता हो, वे पाँच महीने और राम राम कर काट दें, फिर देख लेंगे कि हर महीने ऊटपटांग लेख और हर साल सोलह आने का तकाजा समाप्त हो गया। क्योंकि जब हम सात महीने से देख रहे हैं कि सहायता के नाते बाजे-बाजे बड़े-बड़े लखपतियों से असली दाम भी नहीं मिलते, जो कुछ सहारा देते हैं वह केवल मुख से। जिनसे कुछ आसरा

करो ये और कुछ ले के रहते हैं। जो सचमुच सहायक हैं, वे गिनती में दस भी नहीं। इसी से कई एक उत्तमोत्तम पत्र बन्द हो गये कई एक आज हैं, तो कल नहीं, कल हैं तो परसों नहीं। कई एक ज्यों-त्यों चले जाते हैं, तो केवल चलाने वाले के माथे। पर अपने राम में अब सामर्थ्य नहीं रही। बरसों से झेलते-झेलते हिम्मत हार गई।'

इस प्रकार "ब्राह्मण" ने जन्म लिया, हिन्दी की सेवा की और अन्त में समाप्त होगया। यह पत्र मासिक था। इसका पहला अङ्क १५ मार्च, १८८३ में निकला था। इस समय इसमें १२ पृष्ठ थे। सन् १८८७ में कुछ दिनों के लिए यह बन्द भी हुआ था। "ब्राह्मण की अन्तिम विदा" शीर्षक लेख कदाचित् इसी समय प्रकाशित हुआ था। सन् १८९४ में पं० प्रतापनारायण मिश्र की मृत्यु के उपरान्त, बाबू रामदीन सिंह ने इसे फिर निकालने का प्रयत्न किया; पर वे सफल न हुए। बाबू साहब बाँकीपुर के खड्गविलास प्रेस के मालिक थे। मिश्रजी पर इनकी विशेष कृपा थी। शायद इसी से पं० प्रतापनारायण ने अपनी कुछ पुस्तकों का अधिकार भी उन्हीं को दे दिया था। "ब्राह्मण" ने हिन्दी-साहित्य की क्या सेवा की, इसका पता हमें मिश्रजी के इस कथन से लगता है—

'यह पत्र अच्छा था अथवा बुरा, अपने कर्तव्य-पालन में योग्य था व अयोग्य, यह कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है। न्यायशील सहृदय लोग अपना विचार आप प्रकट कर चुके हैं और करेंगे; पर हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-पत्रों की गणना में एक संख्या इसके द्वारा भी पूरित थी और साहित्य (लिटरेचर) को थोड़ा बहुत सहारा इससे भी मिलता रहता था।'

मिश्रजी के 'ब्राह्मण' ने जो हिन्दी-भाषा और साहित्य का काम शुरू किया। वही, आगे चलकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी की

सरस्वती ने पूरा किया। दोनों अभिन्न हैं। हम तो यही कहेंगे कि 'ब्राह्मण' के ही कारण पं० प्रतापनारायण मिश्र का जीवन-चरित्र एक साहित्य-सेवी की हैसियत से हमारे सामने आ सका। सम्भव है, 'ब्राह्मण' के न होने पर मिश्रजी इतने प्रसिद्ध न होते।

ग्रन्थ

मिश्रजी की, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, फारसी, संस्कृत, बँगला अँगरेजी आदि में भी अच्छी गति थी, पर फारसी, उर्दू, संस्कृत और अँगरेजी का ज्ञान इन्हें इतना न था, जितना बँगला का। ऐसा जान पड़ता है कि बँगला से इन्हें कुछ विशेष प्रेम था। सम्भव है, इसका कारण यह हो कि इनके समकालीन साहित्य-सेवी भी—भारतेन्दु आदि—बँगला-साहित्य की ओर आकृष्ट हो चुके थे। बँगला-साहित्य से प्रभावित होकर इन्होंने कई ग्रन्थों का अनुवाद भी किया। उनकी अनुवादित पुस्तकें ये हैं—

१ राजसिंह
२ इन्दिरा
३ राधारानी
४ युगलांगुरीय
५ चरिताष्टक
६ पञ्चामृत
७ नीतिरत्नावली
८ कथामाला
९ संगीत शाकुन्तल
१० वर्ण परिचय (तृतीय भाग)
११ सेन-वंश (इतिहास)
१२ सूबे बँगाल का भूगोल

इनमें से पहली चार पुस्तकें बँगला के सुप्रसिद्ध लेखक बंकिम बाबू के उपन्यासो के अनुवाद हैं। पाँचवीं पुस्तक में बँगला के ८ महापुरुषों के जीवन-चरित्र हैं। आठवीं और दसवीं पुस्तक ईश्वरचन्द्रजी विद्यासागर की पुस्तकों के अनुवाद हैं। शेष पुस्तकों का परिचय नाम से ही मिल जाता है। इनमें संगीत शाकुन्तल नाम की पुस्तक बड़ी अच्छी चीज है।

इनके अतिरिक्त मिश्रजी की स्वयं लिखी हुई अनेक पुस्तकें हैं। उनके नाम ये हैं—

नाटक

१ कलिप्रभाव
२ हठी हमीर
३ गो-संकट

रूपक—

१ कलि-कौतुक
२ भारत-दुर्दशा

काव्य—

१ मन की लहर
२ शृंगार-विलास
३ लोकोक्ति-शतक
४ तृप्यन्ताम्
५ ब्राडला स्वागत
६ मानस विनोद

संग्रह—

१ प्रताप-संग्रह
२ रसखान-शतक

आल्हा—

१ दंगल-खंड

प्रहसन—

१ जुआरी-खुआरी-प्रहसन

साधारण तौर पर इन पुस्तकों के बारे में इतना कहा जा सकता है कि साहित्यिक दृष्टि से इनका विशेष महत्व नहीं। इनके नाटक और रूपक साधारण कोटि के ही हैं। हाँ, भारतेंदु हरिश्चन्द्र के नाटकों में जो राष्ट्रीयता और सामाजिक-सुधार की झलक पाई जाती है और नाटक साहित्य को समयोपयोगी बनाने के लिए जिस पद्धति का उन्होंने प्रचार किया, मिश्रजी में उसका अनुकरण और समावेश सन्निहित है। कविताओं में, तृप्यन्ताम् उपदेशात्मक है। उसमें देश की दशा का चित्र चित्रित किया गया है। लोकोक्ति-शतक में एक-एक कहावत पर एक-एक पद्य है। इसमें ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि प्रत्येक पद्य का अंतिम चरण स्वयं कोई कहावत है। दोनों संग्रह भी साधारण ही हैं।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त तीन पुस्तकें—वर्ण-माला, शिशु विज्ञान और स्वास्थ्य-रक्षा—भी उन्हीं की बताई जाती हैं; पर वे शायद प्राप्य नहीं हैं; कम से कम मेरे देखने में नहीं आईं। इसलिए निश्चित रूप से यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे अनुवादित हैं, या स्वयं इन्हीं की लिखी हुई। हाँ, नाम देखने से अनुमान किया जा सकता है कि वे अनुवादित ही हो सकती हैं, क्योंकि मिश्रजी ने प्रायः साहित्य और समाज से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें ही लिखी हैं।

कविता

पंडित प्रतापनारायण मिश्र समाज का सुधार करना चाहते थे; देश के शुभचिन्तक थे और साथ ही, मौजी जीव भी। इसी से तीन प्रकार की कविता उन्होंने की है :—

१—समाज-सम्बन्धी

२—देश-भक्ति विषयक

३—सामयिक और स्वांतः सुखाय लिखी हुई।

इस नोट में हम उनकी तीसरे प्रकार की कविता का अध्ययन करेंगे और उसके गुण-दोषों का सिंहावलोकन भी।

मिश्रजी की सामायिक कविता अच्छी है और उसका मान भी बहुत होता था। "ब्राडला स्वागत" शीर्षक कविता का जो ब्रैडला महाशय के आगमन पर स्वागत के लिए लिखी गई थी, बड़ा आदर हुआ था। यहाँ तक कि इङ्गलिस्तान के कुछ पत्रों में भी उसकी आलोचना की गई थी। युवराज का भारत में आना, महारानी विक्टोरिया की जुबली, आदि अनेक बातें ऐसी थीं, जिन्होंने जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था, फिर मिश्रजी तो एक पत्र के सम्पादक थे। उनके लिए "युवराज स्वागत" "विक्टोरिया की जुबली" आदि कविताएँ लिखना स्वाभाविक ही था। यहाँ हम उनकी इस प्रकार की कविता के दो छोटे-छोटे उदाहरण पाठकों के मनोरंजन के लिए देते हैं—

ब्राडला-स्वागत

"स्वागत श्रीयुत ब्राडला, प्रेम-प्रतिष्ठा पात्र;
पलक पाँवड़े करि रहे, तव हित देशी मात्र।"

इन्हीं ब्रैडला साहब की मृत्यु पर भी उन्होंने एक कविता लिखी थी। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

ब्राडला की मृत्यु पर

"हाय हमारे दुख कहँ निज दुख समभन हारे।
प्यारे मिस्टर चार्ल्स ब्रैडला कहाँ सिधारे॥
हाय ब्रिटिश वाटिका कल्पतरु जग हितकारी।
कहँ ढूँढ़ैं दुखिया भारत सुत छाँह तिहारी॥
जाके इक-इक सुगुन सुमिरि फाटति है छाती।
हाय ब्रैडला हाय हिन्द के सत्य संघाती॥

यातें रहि-रहि कहि-कहि आवत उर तें एही।
हाय भँडला हाय सत्य के सहज सनेही ॥"

इन दोनों कविताओं को स्थानाभाव के कारण हमने छोटा करके प्रकाशित किया है। फिर भी इन कविताओं की सुन्दरता कम नहीं होती। इसी प्रकार की उनकी अन्य सामयिक रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं। एक कविता उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती की मृत्यु पर लिखी थी। वह भी देखिए—

"करुणानिधि कहवाय हाय हरि आज कहा यह कीन्हों।
देश उधार जतन तत्पर वर पुरुप-रतन हरि लीन्हों॥
जिन निज सरबसु केवल हम हित तजत विलम्ब न लाई।
तिनसों हाय हमें विधुरावत तुम कहँ दया न आई॥
परे अचेत मोह निद्रा में जे नित सबहिं जगावें।
कछु कछु आँख खुलै पर उनको हाय कहाँ हम पावें॥
यूरुप अमरीका लगि हा! हा! को अब नाम करैगो।
श्रुति कलङ्क गो दुख द्विज दुर्गुन को अब हा न हरैगो॥
गारी खाय अनादर सहिकै विद्या धर्म प्रचारैं।
ऐसो कोउ न दिखाय हाय स्वामी तो स्वर्ग सिधारैं॥"

कविता वही सुन्दर समझी जाती है, जिसमें हम लेखक का हृदय देख सकें। ऐसी ही कविता पाठकों पर प्रभाव डालती है। इस कविता को पढ़ कर कौन ऐसा सहृदय व्यक्ति है, जिसके मुँह से "हाय" न निकल जाय। साथ ही, परिस्थिति, भारत-वासियों की मोहनिद्रा और स्वामीजी के कार्य-कलाप का किस सुन्दर ढंग से वर्णन किया है कि देखते ही बनता है।

दूसरे प्रकार की—स्वांतःसुखाय लिखी हुई—कविताएँ इससे भी सजीव हैं। कवि जब किसी कारण से प्रसन्न होता है,

तब वह स्वयं कुछ गुनगुनाने लगता है। उसकी यही रचना, प्रेरणा विशेष से रची हुई कविता से प्रायः अच्छी हुआ करती है। यही बात मिश्रजी की स्वांतःसुखाय लिखी हुई कविता के विषय में भी, किसी सीमा तक सत्य है। "बुढ़ापा", "मन की लहर" आदि उनकी कविताएँ ऐसी ही हैं। "बुढ़ापा" शीर्षक कविता देखिए—

"हाय बुढ़ापा तोरे मारे
अब तो हम नकन्याय गयन।
करत धरत कछु बनतै नाहीं
कहाँ जायँ औ कैस करन।
छिन भरि चटक छिन्नै माँ मद्धिम
जस बुझात खन होय दिया,
तैसे निखवख देखि परत है
हमरी अक्किल के लच्छन ॥१॥
अस कुछु उतरि जाति है जीते
बाजी बेरियाँ बाजी बात,
कैसेउ सुधि ही नाहीं आवति
मूड़इ काहे न दै मारन।
कहा चहौं कुछु निकसत कुछु है
जीभ रॉड का है यहु हाल,
कोऊ याकौ बात न समझै
चाहै बीसन दाँय कहन ॥२॥
दाढ़ी नाक याक माँ मिलि गै
बिन दाँतन मुँहुँ अस पोपलान,
दढ़ही पर बहि-बहि आवति है
कबौं तमाखू जो फाँकन।

वार पाकि गे रीरो झुकि गै
मूड़ौ मामुर हालन लाग,
हाथ-पाँय कुछु रहे न आपनि
कहिके आगे दुखु रवावन ॥३॥
यही लकुटिया के यूते अब
जस तस डोलित-डालित हैं,
जेहिको लैके सब कामन माँ
सदा दगारन फिरत रहन।
जियत रहैं महराज सदा जो
हम ऐस्यन का पालति हैं;
नाहीं तो अब को धौं पूछै
केहिके कौने काम के हन ॥४॥"

इस कविता में एक वृद्ध आदमी अपनी बुढ़ापे की दशा का वर्णन कर रहा है; वर्णन क्या, सच्चा और सजीव चित्र है। कुछ लोग भाषा को लेकर झगड़ा उठाते हैं कि अमुक भाषा में सरस, और मधुर कविता हो ही नहीं सकती। ऐसे लोगों को यह कविता अवश्य देखनी चाहिए। इसकी भाषा गँवारी—महा-गँवारी—है; पर कविता कितनी सरस और कहने का ढङ्ग कितना स्वाभाविक है। मेरा तो अनुमान है कि यदि कोई बूढ़ा गँवार आज भी अपनी दशा का वर्णन करे, तो उसके मुँह से यही शब्द निकलेंगे।

मिश्रजी ने शृङ्गार रस की भी कुछ कविताएँ की हैं। उनकी इस प्रकार की कविता भी सरस है। कवित्त और सवैयों का अधिकतर प्रयोग इनके लिए किया गया गया है। ऐसी रचनाएँ प्रायः अधिकतर समस्या पूर्ति के लिए की जाती थीं। बात यह थी कि कानपुर के कुछ रसिक कवियों ने मिलकर "रसिक-समाज" नाम की एक संस्था की स्थापना की थी। यह बात

लगभग १८८७ की है। पंडित प्रतापनारायण भी इस संस्था के सदस्य थे। मौजी तो थे ही; उनकी सलाह से 'रसिक वाटिका' नाम की एक पत्रिका भी प्रकाशित कर दी गई। मिश्रजी की जो कविताएँ इसमें छपीं, वे प्रायः सभी शृङ्गार रस की हैं। उनके कुछ छन्द इस प्रकार हैं—

"कल पावैं न प्राण तुम्हैं बिन देखे इन्हें अधिकौं कलपाइए ना।
परताप नरायन जू के निहोरे प्रीति प्रथम बिसराइए ना॥
अहो प्यारे बिचारे दुखीरन पै इतनी निठुराई जनाइए ना।
करि एकहि गाँव में वास हहा सुख देखिबे को तरसाइए ना॥१॥"

"बन बैठी है मान की मूरति सी,
मुख खोलत बोलै न "नाहिं" न "हाँ"।
तुमहीं मनुहारि कै हारि परे,
सखियान की कौन चलाई कहाँ॥
बरखा है प्रताप जू धीर धरौ
अबलौं मन को समुझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलेगी कछू
पपिहा जब पूछि है पीव कहाँ॥२॥"

"बूड़ि मरै न समुद्र में हाय
ये नाहक हाथ निछोछे डुबावैं।
का तजि लाज गराज किए
मुख कारो लिए इत ही उत धावैं॥
नीरि दुखारिन पै बजमारे
वृथा बँदियान के बान चलावैं।
बीर हैं तौ बलिबीरहि जायकै,
बीर बली धुरवा धमकावैं॥३॥"

"आसवै छाकि खुली छति पै,
खुली खेलति जोवन की मतवारी;
गात-ही गात अदा-ही-अदा,
कढ़ै बात-ही-बात सुधा सुखकारी
रंग रचै रस-राग अलापि,
नचै परताप गरे भुज डारी;
ता छिन छावै अजीव मजा,
बजनी घुँघरू रजनी उजियारी॥४॥"

"नैनन में बसै साँवरो रूप,
रहै मुख नाम सदा सुखदाई;
त्यों श्रुति में ब्रज—केलि—कथा,
परिपूरण प्रेम प्रताप बड़ाई।
कोऊ कछू कहै होय कहूँ कछू,
पै जिय में परवाह न लाई,
नेह निभै नँदनंदन सों नर-
देह धरे को यहै फल भाई ॥५॥"

"सिर चोटी गुँधावती फूलन सों
मेंहदी रचि हाथन-पाँवन में,
परताप त्यों चूनरी सूही सजी
मन-मोहनी हावन-भावन में,
निस—द्यौस बितावती पीतम के संग
भूलन और झुलावन में;
उनहीं को सुहावने लागत हैं
धुरवान की धावन सावन में॥६॥"

यह कविताएँ सरस और सुन्दर हैं। इनमें प्रत्येक छन्द के नीचे की पंक्तियाँ समस्याएँ थीं, जिनकी पूर्ति इन छंदों में की गई हैं।

पण्डित प्रताप नारायण उर्दू में कविता किया करते थे। उर्दू में उनका तखल्लुस "बरहमन" था। उनकी उर्दू की कविता भी अच्छी है। नमूना देखिए—

"वह बद खू राह क्या जाने वफा की।
अगर गफलत से बाज आया जफा की ॥ १ ॥
न मारी गाय गोचारन किया बन्द।
तलाफी की जो जालिम ने तो क्या की ॥ २ ॥
मियाँ आये हैं बेगारी पकड़ने।
कहे देती है शोखी नक्शे पा की ॥ ३ ॥
पुलिस ने और बदकारो को शह दी।
मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यो दवा की ॥ ४ ॥
जो काफिर कर गया मन्दिर में बिदअत।
वो जाता है दुहाई है खुदा की ॥ ५ ॥
शबे क़त्ल आगरे के हिन्दुओं पर।
हक़ीक़त खुल गई रोजे जजा की ॥ ६ ॥
खबर हाकिम को दें इस फिक्र में हाय।
घटा की रात और हसरत बढ़ा की ॥ ७ ॥
कहा अब हम मरे साहब कलक्टर।
कहा मैं क्या करूँ मरजी खुदा की ॥ ८ ॥
जमीं पर किसके हो हिन्दू रहे अब।
खबर ला दे कोई तहतुस्सरा की ॥ ६ ॥
कोई पूछे तो हिन्दुस्तानियों से।
कि तुमने किस तवक्का पर वफा की ॥१०॥
उसे मोमिन न समझो ऐ बरहमन।
सताए जो कोई खिलकत खुदा की ॥११॥"

यह कविता १५ दिसम्बर, १८८३ के 'ब्राह्मण' में प्रकाशित हुई
कहा जाता है कि इस ग़जल की पहली पंक्ति तो इनकी है;

पर दूसरी किसी ओर की। जिस समय यह कविता छपी थी; गोरक्षा का प्रश्न छिड़ा हुआ था। बहुत से लोगों ने गो-हत्या के पक्ष में लेख लिखे थे। मिश्रजी ने तो बहुत सी कविताएँ लिखी थीं। उनकी कुछ रचनाएँ संस्कृत में भी मिलती हैं। इसमें कहीं-कहीं पर कुछ दोष हैं और विशेष महत्व की भी यह नहीं है।

पंडित प्रतापनारायण ने कई ग्रन्थों का अनुवाद किया है। गद्य-ग्रन्थ तो इनमें कई हैं; पर पद्य में केवल शकुन्तला ही विशेष प्रसिद्ध है। यह अनुवाद कैसा है, इससे अपने पाठकों को परिचित कराने के लिए एक उदाहरण हम "सुकवि-संकीर्तन" से देते हैं। पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने शकुन्तला के विषय में लिखा है—

"पंडित प्रतापनारायण ने शकुन्तला का जो अनुवाद हिन्दी में किया है, वह अनुवाद नहीं कहा जा सकता, हाँ स्वतन्त्र या स्वच्छन्द अनुवाद कहा जा सकता है। मूल के भावों को इन्होंने अनुवाद में बहुत कुछ घटा-बढ़ा दिया है। इस बात को उन्होंने भूमिका में स्वीकार किया है। ऐसा करने से अगर कहीं-कहीं मूल का मजा जाता रहा है, तो कहीं-कहीं अधिक भी हो गया है। हम यह नहीं कह सकते कि यह अनुवाद सब-कहीं अच्छा ही हुआ है; पर इसका अधिक अंश रोचक, रसवान और मनोहर है।"

चौथे अङ्क की बात है। कण्व-प्रवास से वापस आ गये हैं। उनकी आज्ञा से उनका शिष्य यह देखने के लिए कुटी से बाहर निकला है कि कितनी रात बाकी है। इधर-उधर देखने पर उसे मालूम हुआ कि प्रातःकाल हो गया। तब वह कहता है—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरः सर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥१॥

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं विनन्दयति संस्मरणीयशोभा ।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदु.सहानि ॥२॥

भावार्थ—

जिन औषधियों का सेवन बड़े-बड़े भयंकर रोगों का—नहीं, मृत्यु तक का—नाश कर सकता है उन्हीं का स्वामी, चन्द्रमा, एक तरफ, अस्त हो रहा है। दूसरी तरफ, जिसकी जंघाएँ (रानें) तक नहीं, ऐसे अनुरूप सारथी को रथ के आगे बिठला कर सूर्य उदित हो रहा है। इस प्रकार एक ही साथ, दो तेजस्वी पिंडों की संपदा और विपदा को दिखा कर, अपनी-अपनी अवस्था-विशेष में, मनुष्यों का मानो नियमन किया जा रहा है। अर्थात् सम्पत्ति और विपत्ति के समय किसी को भी हर्ष या विषाद करना उचित नहीं ॥१॥

जो कुमुदनी अपनी प्रफुल्लिता अवस्था में परम शोभामयी थी, वही चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, मेरी आँखों को अच्छी नहीं लगती। अब उसमें उसकी पहली शोभा नहीं रही। उस शोभा का अब स्मरण मात्र शेष है; वह दिखाई नहीं देती। सच है, अपने प्रियतम के प्रवासी होने के कारण उत्पन्न हुआ दुःख अबलाओं को अत्यन्त दुःसह होता है ॥२॥

पं० प्रतापनारायण ने इसका अनुवाद नहीं किया। सिर्फ इसकी छाया लेकर उन्होंने जो कविता लिखी है, वह इस प्रकार है—

प्रभावती

कैसी कमनीय है प्रभा प्रभात काल की।
दिनकर करि इत उजास, उत लहि ससि तेजनास,

कै रहे दसा प्रकास मानौ जग-जाल की;
कुमुदिनी शोभा विहीन, विरहिन इव दुखित दीन,
लागति नैनन मलीन, देखत दिसि लाल की;
दरभ की कुटीन त्यागि, उठहिं मोर जागि-जागि,
वे दिन टिग लागि-लागि ऐड़नि मृगमाल की;
इहि छिन सब साधु-संत, प्रेम-पूरि ह्वै इकंत,
सुमिरत महिमा अनन्त त्रिभुवन महिपाल की ॥१॥

दोहा

तो हमहूँ गुरुदेव सो, करैं निवेदन जाय;
नाथ होम-वेला भई, अरुन उदित दरसाय ॥२॥
वदरि विरिछ के पात पै, ओस बूँद छवि छाय;
कैसी लगति सुहावनी, अरुन-उदय-दुति पाय ॥३॥

सवैया

सोई निसापति जो गिरि मेरु पै, पाँव धरै विचरै निसि माहीं;
त्यों तम तोमहिं नासत जासु, मरीचिका श्रीहरि-धाम लौं जाहीं।
तेज गँवाय गिरै नभ तें सोउ भोर समै दबिकै रवि पाहीं;
या जग माहिं बड़ेहू-बड़ेन की दीसति है थिर संपति नाहीं ॥४॥

पं० प्रतापनारायण का अनुवाद इसी तरह का है। इसी से उनकी योग्यता का अन्दाजा पाठक कर सकते हैं। पिछला सवैया अपूर्व है; याद रखने लायक है; शिक्षा-पूर्ण है। अस्तु!

यहाँ हम मिश्रजी के कविता विषयक विचारों पर भी प्रकाश डालना उचित समझते हैं। पहले कविता की भाषा लीजिए। उन्होंने ब्रजभाषा, खड़ी बोली, उर्दू, संस्कृत आदि भाषाओं में कविता की है। पर वास्तव में उनका भाषा-सम्बन्धी विचार यह है—

"जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावन्य कि उस स्वतंत्र भाषा में है, जो ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, बैंसवारी और अपने ढङ्ग पर लाई

गई संस्कृत व फारसी से बन गई है, जिसे चंद से लेकर हरिश्चन्द्र तक प्रायः सब कवियों ने आदर दिया है। उसका अमृतमय चित्तचालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके, यह किसी कवि के बाप की मजाल नहीं।"

खड़ीबोली को तो पंडित प्रतापनारायण कविता के योग्य समझते ही नहीं थे। इसी से उनकी खड़ीबोली की कविताएँ अधिक नहीं हैं। इस विषय में वे यहाँ तक कहते थे—

"जो कविता नहीं जानते, वे अपनी बोली चाहे खड़ी रक्खें, चाहे कुदावें; पर कवि लोग अपनी प्यार की हुई बोली पर हुक्म चलाके उसकी स्वतंत्र मनोहरता का नाश नहीं करने के। जो कविता के समझने की शक्ति नहीं रखते, वे सीखने का उद्योग करें।"

मिश्रजी उर्दू से इतने नाराज नहीं थे। यद्यपि एक स्थल पर स्वयं ही उसे "सब भाषाओं का कूड़ा करकट" कहा है; तथापि दूसरे स्थान पर वे कहते हैं—

"कविता के लिए उर्दू बुरी नहीं है। कवित्व-रसिकों को वह वीर-ललना के हाव-भाव का मजा देती है।" इसके विपरीत, मिश्रजी खड़ी बोली से बहुत सख्त नाराज थे। एक स्थान पर उन्होंने कहा था—

"सिवाय फारसी छन्द और दो-तीन चाल की लावनियों के और कोई छन्द उसमें (खड़ी बोली में) बनाना भी ऐसा है, जैसे किसी कोमलांगी सुन्दरी को कोट-बूट पहिनाना।"

उस समय, किसी सीमा तक, उनका यह कथन सत्य समझा जाता था। कारण यह था कि हिन्दी का प्रचार हुए अधिक दिन नहीं हुए थे; पर वास्तव मे, कविता की भाषा के विषय में उनका निश्चित मत—सिद्धान्त-वाक्य—यह था कि कविता की भाषा

साधारण बोलचाल की भाषा से भिन्न रहे। उनकी कविता की भाषा जन-साधारण की भाषा ही है तथा कविता और गद्य की भाषा में विशेष अन्तर नहीं मिलता; पर उनका गद्य खड़ीबोली में और अच्छी कविता व्रजभाषा में है। उनके ऊपर के कथन से इस बात का पता चलता है कि वे व्रजभाषा को ही पूर्व-प्रचलित परिपाटी के कारण कविता के योग्य समझते थे। इसी से उनकी इस भाषा में की हुई कविता; दूसरी भाषाओं की कविता की अपेक्षा अधिक सरल और सुन्दर है। अन्य भाषाओं में पहले तो उन्होंने अधिक कविता लिखी ही नहीं है और जो लिखी भी वह साधारण ही है। इसका कारण, खड़ी बोली के लिए तो यह है कि उससे उन्हें एक प्रकार की घृणा-सी थी और उसे वे कविता के बिलकुल अयोग्य समझते थे और व्रजभाषा के लिए यह कि वह उनकी मातृ-भाषा न थी।

यहाँ तक हमने मिश्रजी के कविता की भाषा-सम्बन्धी विचारों को ही स्पष्ट करने की चेष्टा की है; उनकी आलोचना नहीं। हम यह चाहते भी नहीं कि अभी उनकी बातों को काटने का प्रयत्न किया जाय। तत्कालीन हिन्दी-भाषा और साहित्य की परिस्थिति देखते हुए हमें यह कहना पड़ता है कि जो कुछ इन्होंने कहा उस समय वही प्रायः सभी साहित्य-सेवी कह रहे थे। हिन्दी वालों की यह धारणा हो गई थी कि व्रजभाषा गद्य के लिए ठीक नहीं—गद्य के लिए हमें खड़ी बोली को ही अपनाना पड़ेगा—पर पद्य के लिए वह विशेष उपयुक्त समझी गई। इसका प्रधान कारण यह था कि खड़ी बोली का प्रचार कुछ समय पहले ही आरम्भ हुआ था। अस्तु!

एक स्थान पर आचार्य पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने कहा है—"कवि होना कठिन काम है। कवित्व में सिद्धि प्राप्त करने के लिए बहुत पुण्य चाहिए; हृदय में ईश्वरदत्त कवित्व-बीज चाहिए, परिश्रम भी चाहिए, अध्ययन भी चाहिए। दूसरे

शब्दों में सफल कवि वही हो सकता है, जिसमें प्रतिभा है।" हमारे पं० प्रतापनारायण प्रतिभावान थे। उनमें कविता करने की शक्ति थी, लहर थी, तरंग थी। उन्होंने कविता की, समय की दृष्टि से वह अच्छी भी है; पर वे खुल्लमखुल्ला उपदेश देते थे। आधुनिक दृष्टि से कविता का यह ढंग विशेष आदरणीय नहीं समझा जाता है किन्तु मिश्रजी के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह उनकी व्यक्तिगत कमजोरी नहीं थी, समय और स्वभाव के कारण थी। भारतेन्दु ने भी बहुत कुछ लिखा है और उसमें खूब उपदेश दिया है—प्रकट और अप्रकट सभी तरह से। प्रकट रूप से उपदेश देना बुरा है, अप्रकट रूप से नहीं। यह आधुनिक आदर्श है। पर उस समय जो परिपाटी थी, जैसा लोग करते थे, वैसा ही पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने भी किया। उनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, सभी प्रकार की कुरीतियाँ शीघ्र ही हमारे समाज से दूर हो जायँ। इसी से, सुधारक रूप में उन्होंने खूब उपदेश दिया है। परिस्थिति को देखते हुए इसे बुरा नहीं कहा जा सकता।

भाषा

पं० प्रतापनारायण मिश्र के प्रादुर्भाव के समय हिन्दी-भाषा के दो मुख्य रूप प्रचलित थे। एक पर संस्कृत का प्रभाव अधिक था और दूसरे पर अरबी-फारसी का। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इन दोनों ही रूपों को न अपना कर निजी मार्ग बनाया और मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। मिश्रजी इस विषय में भारतेन्दुजी को ही अपना पथ-प्रदर्शक मानते थे। अतः उन्होंने भी भारतेन्दुजी के बीच के मार्ग को ही अपनाया। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इन दोनों साहित्य-सेवियों के भाषा-विषयक सिद्धान्त एक से हैं।

भारतेंदु हरिश्चन्द्रजी की भाषा में जितनी गहरी नागरिकता की छाप है, मिश्रजी की भाषा में उतना ही ग्रामीणता का पुट है। भारतेन्दुजी घरेलू शब्दों और मुहावरों को अपनी भाषा में प्रसन्नता से नहीं आने देते थे। इसके विपरीत मिश्रजी सदैव उनको अपनाने को तैयार रहते थे; यहाँ तक कि अपने अनेक लेखों के शीर्षक भी ग्रामीण मुहावरे ही रक्खे हैं। और मुहावरों के प्रयोग तो मिश्रजी ने बड़ी ही सुन्दर रीति से किये ही हैं। उदाहरण के लिये देखिये—

"डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में, चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है। हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। बात ही हाथी पाइए बाते हाथी पाँव। बात ही से पराए अपने और अपने पराए हो जाते हैं।"

मिश्रजी की भाषा में पूर्वीपन की झलक है। उन्होंने अपनी जन्मभूमि में प्रचलित ग्रामीण मुहावरों का निस्संकोच प्रयोग किया है। यदि कभी उन्हें अपना भाव प्रकट करने के लिए हिन्दी का कोई उचित शब्द न मिलता, तो वे संस्कृत या फारसी शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। पहले वे ग्रामीण शब्दों-द्वारा अपना भाव व्यक्त करने की चेष्टा करते, और यदि कृत-कार्य न होते, तो संस्कृत के उन शब्दों का प्रयोग करते जो अधिक प्रचलित होते। यदि कभी संस्कृत का शब्द भी ठीक न मिलता तो अरबी-फारसी के अति-प्रचलित शब्द, जो हिन्दी से इतना घुल-मिल गये हैं कि विदेशी जान ही नहीं पड़ते—ढूँढ़ते। दूसरे शब्दों में, मिश्रजी किसी भाषा—अरबी, फारसी या संस्कृत—के शब्दों से घृणा नहीं करते थे; पर उनकी हार्दिक अभिलाषा यही रहती थी कि अति प्रचलित

शब्दों का ही प्रयोग किया जाय, तो अच्छा है। यही कारण है कि कहीं-कहीं उनकी भाषा में ग्रामीणता आ गयी है।

मिश्रजी की भाषा की दूसरी विशेषता है—घरेलू मुहावरों का उचित प्रयोग। इस पर हम "शैली" शीर्षक नोट के अन्तर्गत विचार करेंगे। यहाँ हम उनकी भाषा-विषयक दो-एक त्रुटियाँ दिखा देना भी आवश्यक समझते हैं।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र शब्दों के शुद्ध प्रयोग की ओर यथोचित ध्यान नहीं देते थे। 'रिपि', 'रितु', 'ग्रहस्त', 'लेखणी', 'औगुण' आदि अनेकानेक शब्दों को उन्होंने गलत लिखा है। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला, सम्भव है मिश्रजी ने इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और जल्दी में, असावधानी के कारण, इन शब्दों के ये रूप लिख गये हों। क्योंकि वह ब्रजभाषा के कवि थे। और ब्रजभाषा में ऐसे चुभने वाले बहुत से शब्द इसी रूप में बोले जाते हैं। लेकिन प्रचलित भाषा के वह बड़े पक्षपाती थे, इसी कारण अवगुण की जगह झुकते-झुकते भी वह औगुण लिखते थे। इसको त्रुटि या दोष अथवा गलत कहना सरासर सत्य की हत्या करना है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि प्रूफ-रीडिंग करते समय विशेष सतर्कता से काम न लिया गया हो। हमारी समझ में पहला कारण ही ठीक है। प्रूफ में एक-आध स्थान पर गलती हो सकती है, जगह-जगह पर नहीं। सम्भव है, उच्चारण के कारण ही ये शब्द अशुद्ध लिखे गये हों। हमारी इस शंका की पुष्टि इस बात से भी होती है कि "ब्राह्मण" में संस्कृत के कुछ वाक्य भी अशुद्ध मिलते हैं। यथा—अहं पंडितम्। इससे प्रकट होता है कि उनको संस्कृत-व्याकरण का विशेष ज्ञान न था, यद्यपि वे उसमें कविता किया करते थे, जिसका कारण, शायद, उनकी प्रतिभा थी। एक तीसरी बात इस सम्बन्ध में यह भी

कही जा सकती है कि शब्दों के शुद्ध प्रयोग पर विशेष ध्यान न देना भी एक मतलब से था। पं० प्रतापनारायण मिश्र संस्कृत जानते थे। तुलसीदास भी तो संस्कृत जानते थे; परन्तु वे भी रितु ही लिखते थे, ऋतु नहीं। मेरी समझ में यदि हम संस्कृत की दुम में हिन्दी को न बाँधते, तो इस भाषा की अब तक बड़ी उन्नति हो गई होती। अस्तु।

पंडिताऊपन और पूर्वीपन की झलक के अतिरिक्त मिश्रजी की भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी दोषों का भी बाहुल्य है; परन्तु इनके लिखने का ढंग इतना सादा और सरल था कि भाषा में स्वयं रोचकता आजाती थी और पाठकों का ध्यान उन त्रुटियों की ओर न जाता था। देखिये—

"यदि सचमुच हिन्दी का प्रचार चाहते हो, तो आपस के जितने कागज़-पत्तर, लेखा-जोखा, टीम-तमस्सुक हो सबमें नागरी लिखी जाने का उद्योग करो। जिन हिन्दुओं के यहाँ मौलवीसाहब बिसमिल्लाह कराते हैं उनके यहाँ पंडितों से अक्षरारम्भ कराने का उपकार करो। चाहे कोई हँसे, चाहे धमकावे, जो हो सो हो, तुम मनसा वाचा, कर्मणा उर्दू को लुलू देने में सन्नद्ध हो। इधर सरकार से भी मगड़े खुशामद करो, दाँत निकालो, पेट दिखाओ, मेमोरियल भेजो, एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने धरो, किसी भाँति हतोत्साह न हो, हिम्मत न हारो, जो मनसाराम कचियाने लगें तो यह मंत्र सुनादो''बस फिर देखना पाँच-सात बरस में फारसी छार सी उड़ जायगी। नहीं तो होता तो परमेश्वर के किए है हम सदा यही कहा करेंगे "पीस का चुकरा गावैं का छीता हरन" "घूरे के लत्ता बिनै कनातन का डौल बांधैं" हमारी भी कोई सुनैगा? देखें कौन माई का लाल पहले सिर उठाता है।"

कवि के इन भावों को गलत बतलाने वाले देवताओं को प्रणाम है। व्याकरण के दोष आप उनकी भाषा में भरने चले

हैं। पहले आप अपनी भाषा तो ठीक करलें—अपनी आँखों का सहतीर देखें पीछे दूसरे की फूली।

दूसरी कमी विरामों का प्रयोग न करना है। उस समय हिन्दी में इतने विराम-चिह्न प्रचलित नहीं थे, जितने आजकल हैं; पर जो थे, उनका भी प्रयोग मिश्रजी ने नहीं किया है। यदि पाठक ध्यान देकर न पढ़े, तो कम से कम एक बार तो उसे सब वाक्य आपस में सटे हुए प्रतीत होंगे और वह उनका ठीक-ठीक आशय न समझ पायगा; पर हम पंडितजी को इस दोष का दोषी नहीं कह सकते। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में बहुत से लोग विरामों का प्रयोग नहीं करते थे। यहाँ तक कि बाबू श्यामसुन्दरदास की आचार्य द्विवेदीजी को लिखी हुई, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ की जो चिट्ठियाँ हैं, उनमें तो पूर्ण विराम की जगह फुलस्टाप रख कर काम चलाया गया है।

फिर भी, समय को देखते हुए हमें यह कहना पड़ेगा कि मिश्रजी ने हिन्दी की बड़ी सेवा की। कहा जाता है कि उस समय का प्रत्येक लेखक हिन्दी गद्य के लिए कुछ न कुछ कर गया। जिसने थोड़ा किया, उसको भी समय ने बड़ा महत्व दिलाया, तब फिर पंडितजी का कहना ही क्या है। वे तो हिन्दी के सच्चे सेवक और पक्षपाती थे; परन्तु साहित्यिक दृष्टि से यह कहना ही पड़ेगा कि प्रतापनारायण की भाषा का रूप बड़ा ही अस्थिर था। यद्यपि यह ठीक है कि उनके समय तक हिन्दी-गद्य का विशेष विकास तथा परिष्कार नहीं हुआ था; परन्तु गद्य का जो विकसित और परिष्कृत रूप हमें उनके कुछ समकालीन लेखकों में देखने को मिलता है, उसका भी मिश्रजी विशेष अनुसरण न कर सके। इसी कारण उनकी भाषा अनियंत्रित और कुछ प्राचीन सी रह गई है।

"इस समय के गद्य की आलोचना तो आप न करें आप ही यदि इस प्रबन्ध के लेखक हैं दूसरे के सहारे नहीं चल रहे हैं तब तो मैं कहूँगा कि आपने उस समय के गद्य देखे ही नहीं—सार-सुधानिधि, उचित वक्ता, भारतेन्दु भाषा-भूषण आदि आप देखें तब आपको आटा दाल का हाल मालूम होवे।"

शैली

मिश्रजी की शैली दो प्रकार की थी। पहली में गम्भीरता है और दूसरी हास्य-रस पूर्ण। पहले प्रकार की शैली के उदाहरण बहुत कम हैं; शायद उन्होंने एक-आध लेख ही ऐसा लिखा है, जिसमें गंभीरता का पुट है। इस प्रकार की शैली का उदाहरण हम यहाँ पर दे रहे हैं—

"शरीर के द्वारा जितने काम किये जाते हैं, उन सबमें मन का लगाव अवश्य रहता है। जिनमें मन प्रसन्न रहता है वही उत्तमता से होते हैं और जो उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते, वह वास्तव में चाहे अच्छे काम भी हों किन्तु भले प्रकार पूर्ण रीति से सम्पादित नहीं होते न उनका कर्त्ता ही यथोचित आनन्द लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छन्द रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ और अनर्थ-पूर्ण कर देता है।"

संयत और गम्भीर भाषा का एक उदाहरण—"जहाँ पढ़ने लिखने आदि में कष्ट सहते हो वहाँ मन को सुयोग्य बनाने में भी त्रुटि न करो, नै चेत् दिव्य जीवन लाभ करने में अयोग्य रह जाओगे। इससे सब कर्तव्यों की भाँति उपर्युक्त विचार का अभ्यास करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिनों में मन तुम्हारा मित्र बन जायगा और सर्व काल उक्त पथ में विचरण

करने तथा उत्साहित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा। तथा दैवयोग से यदि कोई विशेष खेद का कारण उपस्थित होगा जिसे नित्य के अभ्यास उपाय दूर न कर सकें उस दशा में भी इतनी घबराहट तो उपयोगी नहीं जितनी अनभ्यासियों को होती है क्योंकि विचार-शक्ति इतना अवश्य समझा देगी कि सुख-दुख सदा आया ही जाया करते हैं।"

इस अवतरण में विरामादि चिह्नों का रूप साधारण-सा ही है। यह दोष है।

इस उद्धरण से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि मिश्रजी गम्भीर और विचारात्मक गद्य भी लिख सकते थे; पर ऐसा करना, एक प्रकार से, उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। वे सदैव इसी बात की चेष्टा किया करते थे कि चाहे जैसा भी विषय हो, उसे विनोद-पूर्ण और मनोरञ्जक बना दिया जाय। इस बात को स्वयं उन्होंने "ब्राह्मण के उद्देश्य" शीर्षक टिप्पणी में लिख भी दिया था—

"हाँ, एक बात रही जाती है कि हम में कुछ औगुण भी हैं सो सुनिये। जन्म हमारा फागुन में हुआ है और होली की पैदाइश प्रसिद्ध ही है। कभी कोई हँसी कर बैठें तो क्षमा कीजियेगा। सभ्यता के विरुद्ध न होने पावेगी। वास्तविक बैर हमको किसी से भी नहीं है पर अपने करम लेख से लाचार हैं। सच कह देने में हमको संकोच न होगा। इससे जो महाशय हम पर अप्रसन्न होना चाहें पहिले उन्हें अपनी भूल पर अप्रसन्न होना चाहिए।"

मिश्रजी की इस शैली का उदाहरण देने की हमें कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उनका कोई भी लेख उठा लिया जाय, इस शैली का उदाहरण मिल जायगा। फिर भी उनकी विनोदी प्रकृति से परिचित होने के लिए यहाँ एक छोटा सा अवतरण दिया जाता है—

"यह तो समझिये यह देश कौन है? वही न जहाँ पूज्य मूर्तियाँ भी, दो-एक को छोड़ चक्र वा त्रिशूल वा खड्ग वा धनुष से खाली नहीं हैं, जहाँ धर्म-ग्रन्थों में भी धनुर्वेद मौजूद है, जहाँ शृङ्गार-रस में भी भूचाल और कटाक्ष-बाण, तेग-अदा व कमाने-अब्रू-का वर्णन होता है। यहाँ से लड़ाई-भिड़ाई का सर्वथा अभाव हो जाना यानी सर्वनाश हो जाना है। अभी हिन्दुस्तान में कोई वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ। सब बातों की भाँति वीरता भी लस्टम-पस्टम बनी ही है। पर क्या कीजिये, अवसर न मिलने ही से 'बँधे बछेड़ा कट्टर होइगे बइठे ज्वान गये तोदिआय'।"

यह अवतरण "दशहरा और मुहर्रम" शीर्षक नोट से लिया गया है। व्यंग्य और विनोद की पुट प्रत्यक्ष परिलक्षित है। इस शैली का यह एक अच्छा नमूना है।

मिश्रजी ने किसी बात को सीधे-सादे ढङ्ग से नहीं कहा, यद्यपि उनकी भाषा सीधी-सादी और सरल होती थी। इसका कारण यही जान पड़ता है कि वे प्रत्येक विषय को हास्य और विनोद-पूर्ण बनाना चाहते थे; पर उनका यह ढङ्ग हमें खटकता नहीं। ज्यों-ज्यों हम उनके लेख पढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों उनकी रोचकता बढ़ती जाती है। उनकी शैली की यह भी एक विशेषता है।

पं० प्रतापनारायण के लेखों के शीर्षक भी विचित्र ही होते थे। 'मरे को मारे साह मदार', 'ऊँच निवास नीच करतूती', 'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं', 'जानैं न बूझैं कठौता लैकैं जूझैं', 'टेढ़ जानि शंका सब काहू'। इस प्रकार के शीर्षक से हमें लेख के विषय का थोड़ा-बहुत परिचय मिल जाता है। पर जहाँ उन्होंने 'ट', 'द', 'भौं', 'आप' आदि शीर्षक दिए हैं, वहाँ हम इस बात का अनुमान ही नहीं कर सकते कि लेखक का उद्देश्य या लेख का विषय क्या है। जान पड़ता है, ऐसे

शीर्षक रखने की परिपाटी उस समय प्रचलित भी थी। कारण 'द' शीर्षक नोट में मिश्रजी ने लिखा है—

"हमारे श्रेष्ठ सहयोगी 'हिन्दी-प्रदीप' सिद्ध कर चुके हैं लकार बड़ी ललित और रसीली होती है।"

इस कथन से ध्वनि निकलती है कि पं० बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी-प्रदीप' में 'ल' शीर्षक कोई लेख प्रकाशित हुआ था। उसी का हवाला यहाँ पं० प्रतापनारायण ने दिया है।

मिश्रजी की शैली-विषयक एक बात और भी उल्लेखनीय है। वह है उनकी रचनाओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप। इस का तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यों हम उनके लेख पढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों उनकी प्रकृति आदि से हम परिचित होते जाते हैं। तथा अन्य विशेषताएँ जानने की इच्छा प्रबल होती जाती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि पं० प्रतापनारायण ने अपनी विद्वता प्रदर्शित करने की कभी चेष्टा नहीं की; वरन उन्होंने सीधे-सादे सरल ढङ्ग को ही अपनाया। जब कृत्रिमता रही नहीं, तब हम उनकी रचनाओं में समानता पाते हैं। यही समानता और सरलता मिश्रजी की शैली की घनिष्टता का कारण जान पड़ती है।

अपनी इस अन्तिम विशेषता के कारण ही मिश्रजी का स्थान अपने समकालीन हिन्दी-साहित्य-सेवियों से ही नहीं, द्विवेदी-युग के कुछ साहित्य-निर्माताओं से भी ऊँचा हो जाता है।

उपसंहार

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन थे। इन तीनों ही साहित्य सेवियों का उद्देश्य हिन्दी भाषा की उन्नति करना था। पर भट्ट जी में साहित्यिकता अधिक थी; मिश्रजी और भारतेन्दुजी साहित्य-सेवा के साथ सामाजिक और राजनैतिक उन्नति की

ओर भी ध्यान देते रहते थे। दूसरी बात यह है कि यह दोनों महाशय जन-साधारण की रुचि के अनुसार ओर साथ ही परिस्थिति के अनुकूल कविता भी किया करते थे। यह भी इनकी प्रसिद्धि का एक कारण है।

पर भारतेन्दु ओर मिश्रजी की तुलना नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि मिश्रजी के कुछ लेख बहुत सुन्दर हैं ओर भारतेन्दु जी के लेख भी, साधारणतः उनसे टक्कर नहीं ले सकते; पर साहित्य सेवा की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जितना कार्य किया है उतना क्या उसका चौथा हिस्सा भी मिश्रजी ने नहीं किया। वह समय था—मिश्रजी बराबर कहा करते थे कि भारतेन्दु धनी आदमी थे उन्होंने कई लाख खर्च कर दिया। मेरे पास भी रुपया होता तो मैं बहुत कुछ कर चलता। आज भी रुपये ओर रुपये द्वारा कनवेसिंग के बल से जो हो रहा है वह प्रकट है।

भारतेन्दु की कविता भी मिश्रजी की कविता से आकार-प्रकार में बहुत बढ़ी चढ़ी है—यद्यपि जनता मिश्रजी की कविता का भी आदर करती थी। इसके अतिरिक्त, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भारतेन्दुजी में नागरिकता ओर मिश्रजी में ग्रामीणता अधिक थी। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मिश्रजी का शिष्ट समाज में, मान ही न था। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तो उनके ऐसे मित्र थे, जो उनसे प्रायः मिलने आते थे। मिश्रजी उनका बड़े प्रेम से स्वागत कर के उनके जलपान के लिए दो पैसे के पेड़े मँगाया करते थे। काँग्रेस के जन्म-दाता स्वर्गीय ह्यूम साहबजी उनका बड़ा आदर करते थे। इलाहाबाद की काँग्रेस के अवसर पर जब मिश्रजी कानपूर के प्रतिनिधि की हैसियत से गए थे, ह्यूम साहब ने कुशल-समाचार पूछते-पूछते उन्हें सप्रेम छाती से लगा लिया था। स्वयं भारतेन्दुजी ने उनकी प्रशंसा की थी।

साहित्यिक क्षेत्र में भी उनका अच्छा आदर है। यद्यपि उनके कुछ लेखों में, आधुनिक दृष्टि से परीक्षा करने पर, भाषा और विराम संबंधी दोष दिखाई देते हैं। कभी-कभी विषय से बाहर होकर वे इधर-उधर की बातें भी घसीट लिया करते थे, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि जनता का उनके लेखों से बड़ा मनोरञ्जन होता था और शिष्ट हास्य और व्यंग की उनमें जैसी पुट मिलती है, वैसी आज के भी बहुत से लेखकों के लेखों में नहीं दिखाई देती। साथ ही उनकी लेखनशैली की यह भी एक विशेषता है कि उसमें मिश्रजी के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। इसका तात्पर्य यह है कि लेख को पढ़ कर हम उसके लेखक के—उनके—भाव, विचार, स्वभाव, उद्देश्य, आदर्श आदि से भी परिचित हो सकते हैं। यह बात बहुत कम लोगों में दिखाई आती है। शैली व्यक्तित्व की परिचायक हो—यह सभी लेखकों के लिए नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से, इनकी तुलना, इनके पहले के लेखों में, केवल इन्शाअल्लाखाँ से ही की जा सकती है।

संक्षेप में, मिश्रजी सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के मामलों में अपने समय से बहुत आगे थे—आज ५०-६०-वर्ष बाद जिन सुधारों के लिए हम प्रयत्नशील हैं उनकी ओर इतने समय पहले ही वे संकेत कर चुके थे। जब प्रायः समस्त देश विदेशीय रङ्ग में रङ्ग रहा हो, उस समय जन्म लेकर भी वे बहुत कुछ कर सके। उनकी साहित्य सेवा भी स्तुत्य है। वास्तव में यह हमारा दुर्भाग्य ही था, कि ३८ वर्ष की छोटी अवस्था में ही उनका देहान्त हो गया।

—प्रेमनारायण टण्डन

श्री प्रतापनारायण मिश्र

के

चुने हुए निवन्धों का संग्रह

शिव मूर्ति

हमारे ग्रामदेव भगवान भूतनाथ सब प्रकार से अकथ्य अप्रतर्क्य एवं अचिन्त्य हैं। तौ भी उनके भक्त-जन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं। उनकी सभी बातें सत्य हैं, अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य है। मनुष्य की भाँति वे नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं। इससे हम उनको निराकार कह सकते हैं और प्रेम-दृष्टि से अपने हृदय-मन्दिर में उनका दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं। यथा-तथ्य वर्णन उनका कोई नहीं कर सकता। तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे कहा जावेगा सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनः शांति-कारक सत्य है!!! महात्मा कबीर ने इस विषय में कहा है यह निहायत सच है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथी आवै और कोई उसका नाम बतादे, तो सब उसे टटोलेंगे। यह तो संभव ही नहीं है कि मनुष्य के बालक की भाँति उसे गोद में ले के सब कोई अवयव का ठीक-ठीक बोध कर ले। केवल एक अंग टटोल सकते हैं और दाँत टटोलने

वाला हाथी को खूंटी के समान, कान छूने वाला सूप के समान, पाँव स्पर्श करने वाला खंभे के समान कहेगा, यद्यपि हाथी न खूंटे के समान है न खंभे के। पर कहने वालों की बात झूठी भी नहीं है। उसने भली भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक-एक अंग वैसा ही है जैसा वे कहते हैं। ठीक यही हाल ईश्वर के विषय में हमारी बुद्धि का है। हम पूरा-पूरा वर्णन व पूरा साक्षात करलें तो वह अनंत कैसे और यदि निरा अनन्त मान के अपने मन और वचन को उनकी ओर से बिल्कुल फेर लें तो हम आस्तिक कैसे! सिद्धान्त यह कि हमारी बुद्धि जहां तक है वहाँ तक उनकी स्तुति-प्रार्थना, ध्यान, उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शांति लाभ करेंगे।

उसके साथ जिस प्रकार का जितना सम्बन्ध हम रख सकें उतना ही हमारा मन बुद्धि शरीर संसार परमारथ के लिये मंगल है। जो लोग केवल जगत के दिखाने को वा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं उनसे तो हमारी यही विनय है कि व्यर्थ समय न बिनावें। जितनी देर पूजा पाठ करते हैं, जितनी देर माला सरकाते हैं उतनी देर कमाने-खाने, पढ़ने-गुनने में ध्यान दें तो भला है! और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को अपना पिता बना के निज माता को कलंक लगाते हैं। माता कह के बिचारे जनक को दोषी ठहराते हैं, साकार कल्पना करके व्यापकता का और निराकार कह के अस्तित्व का लोप करते हैं। हमारा यह लेख केवल उनके विनोदार्थ है जो अपनी विचार शक्ति को काम में लाते हैं और ईश्वर के साथ जीवित सम्बन्ध रख के हृदय में आनन्द पाते हैं, तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते हैं! प्रिय पाठक उसकी सभी बातें अनन्त हैं। तौ मूर्तियां भी अनन्त प्रकार से बन सक्ती हैं और एक एक स्वरूप

में अनन्त उपदेश प्राप्त हो सकते हैं। पर हमारी बुद्धि अनन्त नहीं है, इससे कुछ एक प्रकार की मूर्तियों का कुछ कुछ अर्थ लिखते हैं।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है जिसका प्रयोजन यह है कि उनसे हमारा दृढ़ सम्बन्ध है। दृढ़ वस्तुओं की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नींव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा नहीं कि सहज में और का और हो जाय। इसमें बड़ा सुभीता यह भी है कि एक बार बनवा के रख ली, कई पीढ़ी को छुट्टी हुई। चाहे जैसे असावधान पूजक आवें कोई हानि नहीं हो सकती है। धातु की मूर्ति से यह अर्थ है कि हमारा स्वामी द्रवणशील अर्थात् दयामय है। जहाँ हमारे हृदय में प्रेमाग्नि धधकी वहीं हमारा प्रभु हम पर पिघल उठा। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वह हमारी दशा के अनुसार बर्तेंगे। यह नहीं कि उन्हें अपना नियम पालने से काम। हम चाहें मरें चाहें जियें। रत्नमयी मूर्ति से यह भाव है कि हमारा ईश्वरीय सम्बन्ध अमूल्य है। जैसे पन्ना पुखराज की मूर्ति बिना एक गृहस्थी भर का धन लगाये नहीं हाथ आती। यह बड़े ही अमीर का साध्य है। वैसे ही प्रेममय परमात्मा भी हम को तभी मिलेंगे जब हम अपने ज्ञान का अभिमान खो दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है! मृत्तिका की मूर्ति का यह अर्थ है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते हैं। जैसे मिट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है, वैसे ही ईश्वर का वियोग कहीं नहीं है। धन और गुण का ईश्वर प्राप्ति में कुछ काम नहीं। वह निरधन के धन हैं। 'हुनर मन्दों से पूछे जाते हैं बाबे हुनर पहिले'। या यों समझ लो कि सब पदार्थ आदि और अन्त में ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर ही में लय होते हैं इस बात से दृष्टान्त मट्टी से खूब घटता

है। गोबर की मूर्ति यह सिखाती है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है हृदय मन्दिर की कुवासना रूपी दुर्गंध को हरता है। पारे की मूर्ति में यह भाव है कि प्रेमदेव हमारे पुष्टि कारक 'सुगन्धं पुष्टि वर्द्धनं' यह मूर्ति बनाने वा बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथ्वी और जल आदि अष्ट मूर्ति बनी बनाई पूजा के लिये विद्यमान हैं।

वास्तविक प्रेम-मूर्ति मनोमन्दिर में विराजमान है। पर यह दृश्य मूर्तियाँ भी निरर्थक नहीं हैं। इनके कल्पनाकारी मूर्ति निन्दकों से अधिक पढ़े लिखे थे। मूर्तियों के रङ्ग भी यद्यपि अनेक होते हैं पर मुख्य रङ्ग तीन हैं। श्वेत जिसका अर्थ यह है कि परमात्मा शुद्ध है, स्वच्छ है; उसकी किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। पर सभी उसके ऐसे आश्रित हो सकते हैं जैसे उजले रङ्ग पर सब रङ्ग। वह त्रिगुणातीत तो हुई, पर त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं। यदि हम सतोगुणमय भी कहें तो बेअदबी नहीं करते! दूसरा लाल रङ्ग है जो रजोगुण का वर्ण है। ऐसा कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी और का है। और लीजिये कविता के आचार्यों ने अनुराग का रङ्ग लाल कहा है। फिर अनुराग देव का रङ्ग और क्या होगा? तीसरा रङ्ग काला है। उसका भाव सब सोच सकते हैं कि सबसे पक्का यही रङ्ग है, इस पर दूसरा रङ्ग नहीं चढ़ता। ऐसेही प्रेमदेव सब से अधिक पक्के हैं उन पर और का रङ्ग क्या चढ़ेगा? इसके सिवा बाह्य जगत के प्रकाशक नैन हैं। उनकी पुतली काली होती है, भीतर का प्रकाशक ज्ञान है। उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसकी समस्त पुस्तकें काली मसी से लिखी जाती हैं। फिर कहिए जिससे अन्तर, बाहर दोनों प्रकाशित होते हैं, जो प्रेमियों को आँख की ज्योति से भी प्रियतर है, जो अनन्त विद्यामय है उसका फिर और क्या रङ्ग हम मानें? हमारे रसिक पाठक जानते

हैं किसी सुन्दर व्यक्ति के आँखों में काजल और गोरे गोरे गाल पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियों भरे की पूरी शक्ति, रसिकों भर का सर्वस्व एक बार उस शोभा पर निछावर हो जाता है। यहाँ तक कि जिनके असली तिल नहीं होता उन्हें सुन्दरता बढ़ाने को कृत्रिम तिल बनाना पड़ता है। फिर कहिये तो, सर्व शोभामय परम सुन्दर का कौन रङ्ग कल्पना करोगे? समस्त शरीर में सर्वोपरि शिर है उस पर केश कैसे होते हैं? फिर सर्वोत्कृष्ट देवाधिदेव का और क्या रङ्ग है? यदि कोई बड़ा मैदान हो लाखों कोस का और रात को उसका अन्त लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे। पर क्या उनसे उसका छोर देख लोगे? केवल जहाँ दीप ज्योति है वहीं तक देख सकोगे फिर आगे अन्धकार ही तो है? ऐसे ही हमारी हमारे अगणित ऋषियों की सब की बुद्धि जिसका ठीक हाल नहीं प्रकाश सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें? राम-चन्द्र कृष्णचन्द्रादि को यदि अंगरेजी जमाने वाले ईश्वर न मानें तौ भी यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा ईश्वर से और उनसे अधिक सम्बन्ध था। फिर हम क्यों न कहें कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो इसी रंग ढंग का है।

अब आकारों पर ध्यान दीजिये। अधिकतर शिव-मूर्ति लिङ्गाकार होती है जिसमें हाथ, पाँव, मुख कुछ नहीं होते। सब मूर्ति पूजक कह देंगे कि 'हम तो साक्षात ईश्वर नहीं मानते न उसकी यथा तथ्य प्रति कृति मानें। केवल ईश्वर की सेवा करने के लिए एक संकेत चिह्न मानते हैं।' यह बात आदि में शैवों ही के घर से निकली है, क्योंकि लिंग शब्द का अर्थ ही चिह्न है।

सच भी यही है जो वस्तु बाह्य नेत्रों से नहीं देखी जाती उसकी ठीक-ठीक मूर्ति ही क्या? आनन्द की कैसी मूर्ति? दुःख

की कैसी मूर्ति ? रागिनी की कैसी मूर्ति ? केवल चित्त-वृत्ति। केवल उसके गुणों का कुछ द्योतन !! बस ! ठीक शिव मूर्ति यही है। सृष्टि कर्तृत्व, अचिन्त्यत्व अप्रतिमत्व कई एक बातें लिंगाकार मूर्ति से ज्ञात होती हैं। ईश्वर यावत संसार का उत्पादक है। ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्ण रूप से कोई नहीं वर्णन कर सकता। अर्थात् उसकी सभी बातें गोल हैं। बस जब सभी बातें गोल हैं तो चिह्न भी हमने गोल-मोल कल्पना कर लिया यदि 'नतस्य प्रतिमास्ति' का ठीक अर्थ यही है कि ईश्वर प्रतिमा नहीं है तो इसकी ठीक सिद्धि ज्योतिर्लिंग ही से होगी, क्योंकि जिसमें हाथ, पाँव, मुख, नेत्रादि कुछ भी नहीं है उसे प्रतिमा कौन कह सकता है ? पर यदि कोई मोटी बुद्धि वाला कहे कि जो कोई अवयव ही नहीं तो फिर यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं है। हम उत्तर दे सकते हैं कि आँखें हों तो धर्म से कह सकते हो कि कुछ नहीं है ? तात्पर्य यह है कि कुछ है, और कुछ नहीं है। दोनों बातें ईश्वर के विषय में न कही जा सकें, न नहीं कही जा सकें, और हाँ कहना भी ठीक है। एवं नहीं कहना भी ठीक है। इसी भांति शिवलिंग भी समझ लीजिए। वह निरवयव है, पर मूर्ति है। वास्तव में यह विषय ऐसा है कि मन, बुद्धि और वाणी से जितना सोचा समझा और कहा जाय उतना ही बढ़ता जायगा। और हम जन्म भर बका करेंगे, पर आपको यही जान पड़ेगा कि अभी श्रीगणेशायनमः हुई है !!!

इसी से महात्मा लोग कह गये हैं कि ईश्वर को वाद में न ढूँढ़ो पर विश्वास में। इसलिये हम भी योग्य समझते हैं कि सावयव (हाथ पाँव इत्यादि वाली) मूर्तियों के वर्णन की ओर झुकें जानना चाहिये कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है। यह संसार का जातीय धर्म है कि जो वस्तु हमारे आस पास हैं उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौड़ती है।

फारस, अरब और इंगलिश देश के कवि जब संसार की अनित्यता वर्णन करेंगे तो क़बरिस्तान का नक़्शा खींचेंगे, क्योंकि उनके यहाँ स्मशान होते ही नहीं हैं। वे यह न कहें तो क्या कहें कि बड़े बड़े बादशाह खाक में दबे हुए सोते हैं। यदि क़बर का तख़ता उठा कर देखा जाय तो शायद दो चार हड्डियाँ निकलेंगी जिन पर यह नहीं लिखा कि यह सिकन्दर की हड्डी है यह दारा की, इत्यादि।

हमारे यहाँ उक्त विषय में स्मशान का वर्णन होगा, क्योंकि अन्य धर्मियों के आने से पहिले यहां कबरों की चाल ही न थी। यूरोप में खूबसूरती के बयान में अलकावली का रंग काला कभी न कहेंगे। यहां ताम्र वर्ण सौन्दर्य का अंग न समझा जायगा। ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिये तब समझ में आ जायगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ाने वाले सब कहीं सब काल में मनुष्य ही हैं। अतएव उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य ही के स्वरूप की सी सब ठौर की गई है। इंजील और कुरान में भी कहीं कहीं खुदा का दाहिना हाथ बायां हाथ इत्यादि वर्णित हैं, वरंच यह खुला हुआ लिखा है कि उसने आदम को अपने स्वरूप में बनाया। चाहे जैसी उलट फेर की बातें मौलवी साहब और पादरी साहब कहें, पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि ईश्वर यदि सावयव है तो उसका भी रूप हमारे ही रूप का सा होगा। हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मान सके हैं जैसों से प्रत्यक्ष में हमारा उच्च सम्बन्ध है। हमारे माता, पिता, भाई-बन्धु, राजा, गुरू जिनको हम प्रतिष्ठा का आधार एवं आधेय कहते हैं उन सब के हाथ, पाँव, नाक, मुँह हमारे हस्तपदादि से निकले हुए हैं, तो हमारे प्रेम और प्रतिष्ठा का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्धी कैसा होगा बस इसी मत

पर सावयव सब मूर्ति मनुष्य की सी मूर्ति बनाई जाती है। विष्णुदेव की सुन्दर सौम्य मूर्तियाँ प्रेमोत्पादनार्थ हैं क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक आकर्षित होता है। भैरवादि की मूर्तियां भयानक हैं जिसका यह भाव है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के लिये महा भयजनक है। अथच हम उसकी मंगल-मयी सृष्टि में हलचल डालेंगे तो वह कभी उपेक्षा न करेगा। उसका स्वभाव क्रोधी है। पर शिवमूर्ति में कई एक विशेषता हैं। उनके द्वारा हम यह उपकार यथामति ग्रहण कर सकते हैं।

शिर पर गंगा का चिन्ह होने से यह भाव है कि गंगा हमारे देश की सांसारिक और परमार्थिक सर्वस्व हैं और भगवान सदा शिव विश्वव्यापी हैं। अतः विश्वव्यापी की मूर्ति-कल्पना में जगत वा सर्वोपरिपदार्थ ही शिर स्थानी कहा जा सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि पुराणों में गंगा की विष्णु के चरण से उत्पत्ति मानी गई है और शिवजी को परम वैष्णव कहा है। उस परमवैष्णवता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि उनके चरण निर्गत जल को शिर पर धारण करें। ऐसे ही विष्णु भगवान को परम शैव लिखा है कि भगवान विष्णु नित्य सहस्र कमल पुष्पों से सदा शिव की पूजा करते थे। *एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार के कि* हमारा नाम कमल-नयन है अपना नेत्र कमल शिव जी के चरण-कमल को अर्पण कर दिया। सच है अधिक शैवता और क्या हो सकती है! हमारे शास्त्रार्थी भाई ऐसे वर्णन पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं। पर उनका उत्तर हम कभी पुराण प्रतिपादन से देंगे। इस अवसर पर हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे-ऐसे सन्देह बिना कविता पढ़े कभी नहीं दूर होने के। हाँ, इतना हम कह सकते हैं कि भगवान विष्णु की शैवता और भगवान शिव की वैष्णवता का आलंकारिक वर्णन है। वास्तव में विष्णु अर्थात्

व्यापक और शिव अर्थात् कल्याणमय यह दोनों एक ही प्रेम-स्वरूप के नाम हैं। पर उसका वर्णन पूर्णतया असम्भव। अतः कुछ-कुछ गुण एकत्र करके दो स्वरूप कल्पना कर लिये गये हैं जिसमें कवियों को वचन-शक्ति के लिए आधार मिले।

हमारा मुख्य विषय शिव-मूर्ति है और वह विशेषतः शैवों के धर्म का आधार है। अतः इन अप्रतर्क्य विषयों को दिग्दर्शन मात्र कथन करके अपने शैव भाइयों से पूछते हैं कि आप भगवान गंगाधर के पूजक होके वैष्णवों से किस बरते पर द्वेष रख सकते हैं? यदि धर्म से अधिक मतवालेपन पर श्रद्धा हो तो अपने प्रेमाधार भगवान भोलानाथ को परम वैष्णव एवं गंगाधार कहना छोड़ दीजिये! नहीं तो सच्चा शैव वही हो सकता है जो वैष्णव मात्र को आपको देवता समझे। इसी भाँति यह भी समझना चाहिये कि गंगाजी परम शक्ति हैं इससे शैवों को शाक्तों के साथ भी विरोध अयोग्य है। यद्यपि हमारी समझ में तो आस्तिक मात्र को किसी से द्वेष-बुद्धि रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा हैं, सब हमारे खुदा ही के बन्दे हैं। इस नाते सभी हमारे आत्मीय बन्धु हैं पर शैव-समाज का वैष्णव और शाक्त लोगों से विशेष सम्बन्ध ठहरा। अतः इन्हें तो परस्पर महा मैत्री से रहना चाहिये। शिव-मूर्ति में अकेली गङ्गा कितना हित कर सकती हैं इसे जितने बुद्धिमान जितना विचारें उतना ही अधिक उपदेश प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए हम इस विषय को अपने पाठकों के विचार पर छोड़ आगे बढ़ते हैं।

बहुत मूर्तियों के पाँच मुख होते हैं जिससे हमारी समझ में यह आता है कि यावत संसार और परमार्थ का तत्व तो चार वेदों में आपको मिल जायगा, पर यह न समझियेगा कि उनका दर्शन भी वेद-विद्या ही से प्राप्त है। जो कुछ चार वेद सिखलाते हैं उससे भी उनका रूप उनका गुण अधिक है। वेद उनकी

वाणी है। केवल चार पुस्तकों पर ही उस वाणी की इति नहीं है। एक मुख और है जिसकी प्रेम-मयी वाणी केवल प्रेमियों के सुनने में आती है। केवल विद्याभिमानी अधिकाधिक चार वेद द्वारा बड़ी हद चार फल (धर्मार्थ काम मोक्ष) पा जायँगे, पर उनके पंचम मुख सम्बन्धी सुख औरों के लिये है।

शिव-मूर्ति क्या है और कैसी है यह बात तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी नहीं कह सकते हम क्या हैं। पर जहाँ तक साधारणतया बहुत सी मूर्तियां देखने में आई हैं उनका कुछ वर्णन हमने यथामति किया, यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें और भी लिखते, पर इतने लिखने से भी हमें निश्चय है किसी न किसी भाई का कुछ भला हो ही रहेगा। मरने के पीछे कैलाशवास तो विश्वास की बात है। हमने न कैलाश देखा है, न किसी देखने वाले से कभी वार्तालाप अथवा पत्र व्यवहार किया है। हां यदि होगा होगा तो प्रत्येक मूर्ति के पूजक को ही रहेगा। पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि जहाँ शिव हैं वहां कैलाश है। तो जब हमारे हृदय में शिव होंगे तो हमारा हृदय-मन्दिर क्यों न कैलाश होगा? हे विश्वनाथ! कभी हमारे हृदय मन्दिर को कैलाश बनाओगे? कभी वह दिन दिखाओगे कि भारतवासी मात्र केवल तुम्हारे हो जायं और यह पवित्र भूमि फिर कैलाश हो जाय? जिस प्रकार अन्य धातु पाषाणादि निर्मित मूर्तियों का रामनाथ, वैद्यनाथ, आनन्देश्वर, खेरेश्वर आदि नाम होता है वैसे इस अक्षरमयी शिव-मूर्ति के अगणित नाम हैं। हृदयेश्वर, मङ्गलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है। कोई महाशय प्रेम का ईश्वर न समझें। मुख्य अर्थ है कि प्रेममय ईश्वर। इनका दर्शन भी

प्रेम-चक्षु के बिना दुर्लभ है। जब अपनी अकर्मण्यता का और उनके एक एक उपकार का सच्चा ध्यान जमेगा तब अवश्य हृदय उमड़ेगा, और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी। उस धारा का नाम प्रेम-गङ्गा है। उसी के जल से स्नान कराने का महात्म्य है। हृदय-कमल उनके चरणों पर चढ़ाने से अक्षय पुण्य है। यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकती। पर यह भी स्मरण रखिये कि यदि आपके हृदय में प्रेम है तो संसार भर के मूर्तिमान और अमूर्तिमान सब पदार्थ शिव मूर्ति हैं, अर्थात् कल्याण का रूप है। नहीं तो सोने और हीरे की मूर्ति तुच्छ है। यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हें सुख होता, भैयाचारे में नाम होता, बिपति काल में निर्वाह होता। पर मूर्ति से कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। पाषाण, धातु, मृत्तिका का कहना ही क्या है? स्वयं तुच्छ पदार्थ हैं। केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर हैं, नहीं तो घर की चक्की से भी गये बीते, पानी पीने के भी काम के नहीं, यही नहीं प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा? जब चाहो आँखें मूंद के अन्धे की नक़ल कर देखो। अन्धकार के सिवाय कुछ न सूझेगा। वेद पढ़ने में हाथ मुंह दोनों दुखेंगे। अधिक श्रम करोगे, दिमाग़ में गर्मी चढ़ जायगी। खैर इन बातों के बढ़ाने से क्या है? जहाँ तक सहृदयता से विचार कीजियेगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे शिर पैर के काम, स्वर्ग शेख़चिल्ली का महल, मुक्ति प्रेत की बहिन है। ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है। ब्रह्म शब्द ही नपुंसक अर्थात् है। और हृदय मन्दिर में प्रेम का प्रकाश है तो संसार शिवमय है क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिव-मूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है।

गंगाजी

इन तीन अक्षरों से हमारे भारत को कितना सम्बन्ध है, यह सोचने बैठते हैं तो हमारा मन हिमालय से भी लम्बा चौड़ा और विचार-शक्ति तो गङ्गा नहीं, वरंच महासागर को लज्जित करने वाली हो जाती है। आहा! गङ्गा और भारत के सम्बन्ध को पूर्ण रूप से लिखना कोई हँसी खेल है? ऐसा भी कोई हिन्दू है जो दिन भर में इस नाम को मन वा वचन से न्यूनातिन्यून एक बार न लेता हो। ऐसा भी कोई काम है जिसमें गङ्गा जी का कुछ न कुछ प्रत्यक्ष वा प्रच्छन्न लगाव न हो। ऐसा भी किसी विषय का कोई ग्रन्थ है जिसमें किसी न किसी रीति से यह अक्षर न आए हों। नहीं नहीं, कदापि नहीं! भारत की तो गङ्गा प्राण है, शोभा है, वरंच सर्वस्व है! परमोत्तम पुरुषों के शिरोमुकुट हमारे मुनीश्वरों को ब्रह्म-प्राप्ति की बड़ी सुविधा गङ्गा ही से है—

गङ्गा तरंग कण शीकर शीतलानि,
विद्याधराधुषित चारु शिलातलानि।

कहाँ तक कहिये, ब्रह्मद्रव, देवनदी इत्यादि नामों ही से टपकता है कि ऋषियों को जगत् से अनिच्छा होने पर भी गङ्गा से ममत्व था। ....सैकड़ों मन खाद्य वस्तुएँ गङ्गाजल से सींची जाती हैं। सहस्रों ब्राह्मण गङ्गातट पर सुख से जीवन-यात्रा करते हैं। लाखों जीव-जन्तु गङ्गा में पलते हैं। फिर क्यों न गङ्गा माता कही जायँ? इधर यदि वेदों में "इमम्मे गंगे" इत्यादि मन्त्र हैं, पुराणों में एतद्विषयक बहुत सी कथाएँ हैं तो आल्हा में भी "गङ्गा किरिया रामदुहाई हम ना धरब पछाड़े पाँव" मौजूद है।

भक्तों के लिए नहाने और ठाकुर नहलाने को गङ्गा, व्यापारियों के लिए नावें आने-जाने को गङ्गा, सहृदयों के लिए सायंकाल हवा खाने को गङ्गा, अनेक प्रकार के रोगियों के लिए जल और बालुका द्वारा व्याधि हटाने को गंगा, बेईमानों के लिए बात-बात पर उठाने को गंगा, नगर भर का अघोर बहाने को गंगा, मृतकों की अन्त्येष्टि बनाने को गंगा, नए मतवालों के मुँह बिचकाने को गंगा, राह में मिशनरियों के वाज सुनाने को गङ्गा और हाय निर्दयी हत्यारों को मछली फँसाने के लिए जाल फैलाने को गंगा! प्यारे पाठकगण दूर तक समझ लीजिए, कहाँ २ कैसे २ किसको २ गङ्गा से प्रयोजन है! यद्यपि हमारे यहाँ बहुत-सी नदियाँ हैं, पर ऐसा सर्वव्यापी सम्बन्ध किसी का नहीं। जमुनाजी भगवान कृष्णचन्द्र के नाते पूजनीया मानी जाती हैं, पर हमारी गङ्गा की छोटी ही बहिन कहलाती हैं। ऐसी कोई सम्प्रदाय नहीं जिसमें गङ्गा न मानी जाती हों। ग्रन्थ के ग्रन्थ गङ्गाजी की महिमा से भरे पड़े हैं, और अब भी बनते ही चले जाते हैं।

हमारे बड़े-बड़े तीर्थ और बड़े-बड़े नगर बहुत ही थोड़े हैं जो गङ्गा पर न हों। जहाँ से गङ्गाजी दूर हैं वहाँ कोई कुंड या कोई छोटी नदी का नाम गङ्गा-सम्बन्धी अवश्य होगा। हमारे बैसवाड़े

में एक कहतूत है कि "का गंगै हाड़ लै जैहो", इससे मालूम होता है कि कभी किसी स्थान के हिन्दू, जिनसे गङ्गा बहुत दूर हैं, वे अपने प्रिय मृतकों की हड्डियाँ गंगा में पहुँचाना बड़ा उत्तम समझते होंगे। सभी नदियों के तटस्थ ब्राह्मण घाटिया इत्यादि कहाते हैं, पर गंगा के नाते लाखों ब्राह्मण, गंगापुत्र के नाम से पुकारे जाते और, कैसे ही क्यों न हों, पुजाते हैं। क्यों न कहिये कि गंगा हमारी एक महत्तम प्रेमधार हैं। धन्य गंगे! सर्वदेवमयी गंगा जिन्होंने कहा है निहायत ठीक कहा है, क्योंकि—

शिव शिर मालति माल भगीरथ नृपति पुण्य फल,
ऐरावत, गज गिरिवर पविनव कंठमालकल।
श्री हरिपद नख चन्द्रकांतमणि द्रवित सुधारस,
ब्रह्म कमण्डल मंडन भव-खंडन सुर सरबस।

—इत्यादि वाक्यों का स्मरण होते ही तबियत को ताजगी होती, है। फिर तुम्हें अमृतमयी क्यों न मानें?

बहुतों का विश्वास है, बहुत पोथियों में लिखा है कि गंगा-स्नातक मरणानन्तर शिवत्व अथवा विष्णुत्व को प्राप्त होता है। श्रीमान् कविवर अब्दुल रहीम खाँ खानखाना, जो अकबर के समय में संस्कृत और भाषा के बड़े अच्छे वेत्ता थे उनका एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

अच्युत चरण तरंगिनि! शशिशेखर मौलि मालतीमाले।
मन तन वितरण समये हरता देया न मे हरता॥

अर्थात् विष्णु बनाओगी तो मुझे कृतघ्नता का दोष होगा, क्योंकि तुम उनके चरण से निकली कहाती हो। अतएव शिव बनाना, जिसमें तुम्हें शिर पर धारण करूं। अन्य मतवाले देख लें कि अच्छे मुसलमान भी हमारी गंगा को क्या कहते हैं। फिर उन हिन्दुओं को हम क्या कहें जो गंगा की प्रीति नहीं करते!

हमारी समझ में मरने पर क्या होता है, यह नहीं आता। पर जीते जी ब्रह्मा, विष्णु, महेश बना देती हैं, यह तो हम प्रत्यक्ष दिखा देंगे। किनारे नहाने को खड़े हो तो पांव के नीचे गंगा बहती हैं, यह विष्णु भगवान् का चिह्न है। डुबकी लगाने के समय शिर के ऊपर से धारा बहती है, यह शिव जी का अंग है। बाहर निकलते ही मुख में वेद का कोई मंत्र वा वेदवंद्य परमेश्वर का कोई नाम होता है, जो ब्रह्म का रूप है। क्यो, तीनो हो गये? हमारे मित्र मुँशी कालीचरण साहब 'सेवक' कवि की एक सवैया इसी मतलब में है, यथा:—

सेवक तीर पै ठाढ़ो भयो पद ह्वै बहि विष्णुता गंग दई है,
न्हात समय सिर ते कढ़ी वाह्वन शंकर लों शुभ शोभा भई है।
बाहर आय पढ़े श्रुति मंत्र तबै विधि को पद सांचौ हुई है,
आय त्रिगामिनि तीर त्रितापिहु होत सदेह त्रिवेदमयी है।

वरंच हमारे रसिकों को इन्द्र-पदवी अधिक प्राप्त होती है क्योंकि हजार आंखें मिलती हैं, इसका अर्थ समझना मुश्किल नहीं है। अहा हा!

नजर आता है हरसू गुट परीयो हूरो गिलमा का।
मिलै है राहे गंगा में हमें रुतबा सुलेमां का।

धोखा

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असम्भव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान रामचन्द्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायें? बरंच ऐसी ऐसी कथाओं से विदित होता है स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं ही रहता क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं, इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्द में कह सकते हैं कि माया का प्रपञ्च फैलता है या धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सब से पृथक् रहने वाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग

है, वरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार-धारण की दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला, और सच भी यही है, जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योंकर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके; पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाये संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

वेदान्ती लोग जगत को मिथ्या भ्रम समझते हैं। यहां तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली-भांति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वह फूट फूट कर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझकर रोते क्यों हैं? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रम स्वरूप भगवान के बनाये हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार है, वरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं! और कौन जाने हो तो हमें उससे कोई काम नहीं! परमेश्वर

सब का भरम बनाये रक्खे, इसी में सब कुछ है। जहाँ भरम खुल गया, वहीं लाख की भलमंसी खाक मे मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानके सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें; पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, बरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और "नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय," इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मजा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छांटना सत्यानाशी की जड़ है! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मलमूत्र, मांस,, मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकारमात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और दर्शन स्पर्शनादि से आनन्द लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे सिर में कितने बाल हैं या एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किंतु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख २ कर सुख प्राप्त करते हैं! विचार कर देखिये तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरांत न जाने किस के हाथ में वा किस दशा में पड़ के हमारे पक्ष में कैसे हो जायं, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या ? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूँदि गई आंखें तब लाखें केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझकर सब से सम्बन्ध तोड़ दें तो सारी पूँजी गंवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री पुत्रादि का प्रबन्ध न

करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें ! 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार के सुख-सुविधा, सुयश से वंचित रह जावें ! इतना ही नहीं, वरंच और भी सोच कर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी ?

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरज़े दुरुस्त हैं, और ठीक ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट खट, टन टन आवाज़ आ रही है, जहाँ उसके पुरज़ों का लगाव बिगड़ा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहां इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव ? कैसी आत्मा ? एक रीति से यह कहना भूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अन्ततोगत्वा योंही कहा जा सकता है ! इसी प्रकार स्वर्ग नर्कादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किन्तु बड़े बड़े आस्तिकों के सिद्धान्त से भी 'अविदित सुख दुःख निर्विशेष स्वरूपं' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नर्क और बैकुंठ का पता कहीं नहीं पाया। किन्तु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रख कर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी २ बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदासजी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्री सूरदासजी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्ष-

तया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं? धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न २ चला जाता है, नहीं तो ढिचर २ होने लगे, वरंच रही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सुकड़ जाती हैं? इसके उत्तर मे हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गंवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन क़लई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्बन्ध में हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहने वाला बेदाग़ नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहने वाले अल्प सामर्थ्यी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असम्भव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निंदा करना नीति-विरुद्ध है। पर क्या कीजिये, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गये हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा पीछा सोचे बिना जो मुंह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगड़ने से बनाव बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिये तो क्या भीख मांग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी

करके धर्म खोइयेगा, वा भूखों मर के आत्महत्या के पापभागी होइयेगा! योंही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आपही उसका दमन कर दीजिए तो अनेकों लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने बैठने की शक्ति न रहेगी, और संखिया सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग दोख दूर हो जायंगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो एक बार धोखा खाके धोखेबाज़ों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी फुंदनी जोड़ कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली बरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शकर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तो भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

योंही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भांप न सके, और तुम्हारा बलि पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथखंडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आंसू तथा गुरू-घंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादुपूर्वक खा! इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खोके सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति-कुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

काल

संसार में जो कुछ देखा सुना जाता है सब इन्हीं दो अक्षरों के अन्तर्गत है। इसका पूरा भेद पाना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है, क्योंकि यदि

'नृपति सेन सम्पति सचिव, सुत कलत्र परिवार।
करत सबन को स्वप्नसम, नमो काल करतार॥'

के अनुसार इसे ईश्वर का रूपान्तर न मानिये तौ भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अनादि और अनन्त एवं अनेक रूपधारी तथापि अरूप यह भी है। इसी कारण बहुत से महात्माओं ने परमात्मा का नाम महाकाल रक्खा है। पर हमारी समझ में जो स्वयं महत्व-विशिष्ट है उसके नाम में 'महा' का शब्द जोड़ना व्यर्थ ही नहीं, किन्तु एक रीति से हँसी करना है। ब्राह्मण को महाब्राह्मण कहने से कोई प्रशंसा का द्योतन नहीं होता। केवल काल ही कहने से पूरी स्तुति हो जाती है। जिन्होंने परमात्मा को अकाल कहा है वे भी न जाने क्या समझे थे, नहीं तो जो सब काल में विद्यमान है वह अकाल क्यों? उसे तो नित्य कहना चाहिए। काल से यहाँ हमारा अभिप्राय मृत्यु से नहीं,

किन्तु समय से है। मृत्यु का यह नाम केवल इसलिए पड़ गया है कि उसके लिए एक निश्चित और अटल काल नियत है। पर सूक्ष्म विचार से देखिये तो सभी बातें काल के अधीन हैं। वृक्ष लगा के सींचते सींचते सिर दे मारिये, जब तक उसके फलने का काल न आवेगा तब तक फल का दर्शन न होगा।

इसी प्रकार जिधर दृष्टि फैलाइये यही देखियेगा कि सब कुछ काल के अधीन है। बिना काल कभी कहीं कुछ हो ही नहीं सकता, यों उद्योग करना पुरुष का धर्म है। उसमें लगे रहो। आलस्य बड़ी बुरी बात है, उसे छोड़ो; पर यह भी स्मरण रक्खो कि काल बड़ा बली है। वह अपने अवसर पर सब कुछ करा लेता है, या यों कहिये कि आप कर लेता है। आप बड़े उद्योगी हैं, पर तन मन धन सब निछावर कर दीजिये, हम आप की ओर दृष्टि भी न करेंगे, साथ देना कैसा? हम बड़े भारी आलसी हैं, पर जब पास पल्ले कुछ न रहेगा और स्वाभाविक आवश्यकताएँ सतावेंगी तब विवश हो हाथ-पाँव अथवा जिह्वा किसी काम में लगावेंगे, जिससे निर्वाह हो। इसीसे बुद्धिमान् लोग कह गये हैं कि मनुष्य को काल का अनुसरण करना चाहिए, जमाने के तेवर पहचानना चाहिए। जो लोग ऐसा नहीं करते वे या तो बीते हुए काल की दशा पर घमंड करके अपने लिए काँटे बोते हैं अथवा आगामी काल की कल्पित आशा में पड़ कर हानि सहते हैं। पर यह दोनों बातें मूर्खता की हैं। हमें चाहिए कि जो कुछ करना हो वर्त्तमान की गति के अनुसार करें। जो लोग अपने काल के अनेक पुरुषों की चाल ढाल परिवर्तित कर देने के लिए प्रसिद्ध हो गये हैं, वे वास्तव में साधारण व्यक्ति न थे। उन्हें मूर्ख समझिये चाहे मनीषी कहिये, पर वे थे बड़े। किन्तु उस बड़प्पन का कारण काल ही के अनुसरण पर निर्भर था। जिन्होंने यह विचार

कर काम किया कि हमारे पूर्व इतने दिनों से जनता इस ढर्रे पर झुक रही है, अतः इधर ही के अनुकूल पुरुषार्थ दिखाना उत्तम होगा, उनकी मनोरथ-सिद्धि बड़ी सरलता से हुई; क्योंकि जिस बात को वे चलाना चाहते थे, उसके अवयव पहले ही से प्रस्तुत थे। इस कारण वे अपने काम में बड़े सन्तोष के साथ कृतकार्य हुए। पर जिन्होंने कालचक्र की चाल और सहकालीन लोगों की रुचि न पहचान कर; अपना काम फैलाया, वे मरने के पीछे चाहे जैसे गौरवास्पद हुए हों, उनके उत्तराधिकारी ने चाहे जितनी कृतकृत्यता प्राप्त की हो, पर अपने जीवन-काल को उन्होंने अपमान, कष्ट और हानि ही सहते महते बिताया।

वे आज हमारी दृष्टि में प्रतिष्ठास्पद तो हैं, पर विचारशक्ति उनमें यह दोष लगा सकती है कि या तो उनमें जमाने के तेवर पहचानने की शक्ति न थी या जान बूझ कर नेचर के साथ लड़ाई ठान के वे उलझेड़े में पड़े। उपर्युक्त दोनों प्रकार के उदाहरण प्रत्येक देश के इतिहास में अनेक मिल सकते हैं, पर उन्हें न लिख के भी यदि हम अपने पाठकों से पूछें कि इन दोनों में आपको कौन मार्ग रुचता है तो हम निश्चय यही उत्तर पावेंगे कि काल की चाल के अनुकूल चलने वाला, क्योंकि सदा सब देशों में बड़े बड़े लोग थोड़े होते हैं जो प्रत्येक कष्ट और हानि का सामना करने को बद्ध-परिकर रहें, पर ऐसे लोगों की संख्या अधिक होती है जो साधारण रीति से संसार के नित्य नियमों का पालनमात्र अपनी सामर्थ्य का निचोड़ समझते हों; और ऐसे लोगों के लिए यही ढर्रा सुभीते का है कि जिधर अनेक सहकालिकों की मनोवृत्ति झुक रही हो उधर ही ढुलके रहना।

इसमें हानि अथवा निन्दा का भय नहीं है, वरञ्च यदि कम परिश्रम, सहनशीलता आदि में थोड़ी सी विशेषता निभ जाय तो

अपना तथा अपने लोगों का बड़ा भारी हित हो सकता है, महाबली काल की सहायता मिलती रहती है।

इससे जिन्हें हमारे उपदेश कुछ रुचिकारक हों; उनसे हम अनुरोध करते हैं कि बड़े बड़े विचार छोड़ के यदि वे सचमुच देश-जाति का भला चाहते हों, तो तन मन धन, कुछ न हो सके तो वचन, से थोड़ा बहुत कोई ऐसा काम नित्य करते रहें जो वर्त्तमान समय के बहुत से लोगों ने अच्छा समझ रक्खा हो।

बस इसी में बहुत कुछ हो रहेगा। जिस काल में यह सामर्थ्य है कि सारे जगत के सर्वोत्कृष्ट प्रकाशक सूर्य को आधी रात के समय ऐसा अदृश्य करते हैं कि दूरबीन लगाने से भी न देख पड़े, जिसमें यह शक्ति है कि जड़-चेतनमात्र को प्रफुल्लित करने वाले, सबके जीवन के एकमात्र आधार, प्रातः पवन को जेठ बैसाख की दुपहरी में ऐसा बना देते हैं कि लोग उससे जी चुराते हैं, वह यदि तुम्हारा साथी होगा अथवा यों कहो कि तुम यदि उसके अनुगामी होगे, तो क्या कुछ न हो रहेगा? उसकी वह महिमा है कि जो बातें कभी किसी के ध्यान में नहीं आतीं वरंच सोचने से असम्भव जँचती हैं उनके लिए ऐसे ऐसे योग लगा देता है कि एक दिन वैसा ही हो रहता है। ऐसे महा-सामर्थी से यह तो विचारना ही न चाहिए कि अमुक बात न हो सकेगी।

जो चित्ता भर के बालक को बली, धनी, विद्वान् मनुष्य और बड़े से बड़े मनुष्य-रत्न को राख का ढेर बना देता है, वह क्या नहीं कर सकता? उसके तनिक से भ्रू-सञ्चालन में जो न हो जाय सो थोड़ा है। आपके शरीर में चाहे सहस्र हाथियों का बल हो, पर काल भगवान् एक दिन की अस्वस्थता में लाठी के सहारे उठने बैठने योग्य बना सकते हैं।

किसी के घर में लाखों की सम्पत्ति भरी हो, पर एक रात्रि में चोरों के द्वारा वह भिक्षा माँगने के योग्य कर सकते हैं।

फिर इनके सामने किसका घमंड रह सकता है? जो लोग समझते हैं कि हमारा देश अमुक अमुक विपयों से दुखी है, उन्हें विश्वास रखना चाहिए कि कालचक्र, समय का पहिया, प्रति क्षण घूमता ही रहता है और उसका नियम है कि जो आरा ऊपर है वह अवश्य नीचे आवेगा तथा जो नीचे है वह अवश्य ऊपर जायगा।

अतः रात्रि में यह सोचना कि दिन होहीगा नहीं, बज्र मूर्खता है। आप कुछ कीजिए अवश्य, तभी सब कुछ हो रहेगा, अनेक काम हैं जिनमें से एक एक में अनेक अनेक लोग लगे हुए हैं, आप भी किसी में जुट जाइये। पर इतना स्मरण रखियेगा कि जिस काम में काल की गति परखने वाले लगे हों, उसी में लगने से सुभीता रहेगा, विरुद्ध कार्यवाही में अनेक विघ्नों का भय है। यदि उन्हें झेल भी जाइये तो भी अपने जीते जी तो पहाड़ खोद के चूहा ही निकालियेगा, पीछे से चाहे जो हो, उसमें आपका इजारा नहीं। वह काल भगवान् की इच्छा पर निर्भर है। इसी से अगले लोग कह गये हैं कि काल का स्मरण सब काल करते रहना चाहिए।

धरतीमाता

आजकल हमारे देश में गौमाता के गुण तथा उनकी रक्षा के उपाय एवं तज्जनित लाभ की चर्चा चारों ओर सुनाई देती है। यद्यपि दुष्ट प्रकृति के लोग उसमें बाधा करने से नहीं चूकते, और बहुत से कपटी रक्षक बन२ के भी भक्षक का काम करते हैं, अथवा कमर मजबूत बांधके तन मन धन से इस विषय का उद्योग करने वाले भी श्री स्वामी आलाराम, श्रीमान् स्वामी और पंडित जगतनारायण के सिवा देख नहीं पड़ते। नामवरी का लालच, आपस का वैमनस्य, सर्कार की स्वार्थपरता या बेपरवाई इत्यादि कई अड़चनें बड़ी भारी हैं; पर लोगों के दिलों पर इस बात का बीज पड़ गया है तो निश्चय है कि कभी न कभी कुछ न कुछ हो ही रहेगा। पर खेद का विषय है कि हमारी धरती माता की ओर अभी हमारे राजा प्रजा किसी का भी ध्यान नहीं है। हम अपने दिहाती भाइयों को देखते हैं तो सदा स्वच्छ वायु में रहते और परिश्रम करते एवं अनेक बलनाशक दुर्व्यसनों से बचते हुए भी अधिकांश निर्बल ही पाते हैं। यह बुद्धिमानों का महानुभूत सिद्धान्त है कि 'उत्तम खेती मध्यम बान, निषिद्ध चाकरी भीख निदान', पर आजकल कृषिजीवी ही लोग अधिक दरिद्री पाए

जाते हैं। कितने शोक की बात है कि जिनके घर से हमारे नगर-वासी भाइयों को अन्न-वस्त्र मिलता है उन्हीं को रोटी-लंगोटी के लाले पड़े रहते हैं।

हमारे बुद्धिमान डाक्टर और हकीम जिन बातों को स्वास्थ्य-रक्षा का मूल बताते हैं उन्हीं कामों को दिन-रात करने वाले यथोचित रीति से हृष्ट पुष्ट न हों, इसका कारण क्या है? ईश्वर की इच्छा, काल की गति, वर्तमान राजा की नीति, चाहे जो कह लीजिये, पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि हमारे नाश का मुख्य कारण हमारी ही मूर्खता है। नहीं तो कुत्ते भी जहाँ बैठते हैं, वहाँ पूँछ हिला के बैठते हैं। पर हमने अपनी चाल उनसे भी बुरी कर रक्खी है कि जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसी के बनने बिगड़ने का ध्यान नहीं रखते। हमारे वे पूर्वज मूर्ख न थे जिन्होंने धरती को माता एवं शिवजी को आठ मूर्तियों में से एक मूर्ति कहा है, तथा उसके पूजन की आज्ञा दी है। वे भली भाँति जानते थे कि संसार में जितने पदार्थ हैं सबकी उत्पत्ति और लय इसी में और इसी से होती है।

हम सारे धर्माधर्म इसी पर करते हैं, हमारे सुख-भोग की सारी सामग्री हमें इसी से प्राप्त होती है। फिर इसके माता होने में क्या सन्देह है। यदि इस माता के प्रसन्न रखने में उद्योग न करते रहेंगे तो हमारी क्या दशा होगी? अब इस समय के अनेक विदेशी विद्वानों को भी निश्चय हो गया है कि यदि कोई पुरुष नित्य शरीर पर साफ चिकनी मिट्टी लगाया करे वा प्रतिदिन कुछ काल उसमें लोटा करे तो शरीर मस्तिष्क एवं हृदय को बड़ा लाभ पहुँचता है। हमारे यहाँ के अपठित लोग भी जानते हैं कि मट्टी देह को पालती है पर यदि हम मट्टी को शुद्ध न रक्खें, उसके अशुद्ध रखने वालों को न रोकें, शुद्ध मट्टी प्राप्त करने में आलस्य अथवा लोभ करें तो हमारा ही अपराध है कि नहीं? और उस

अपराध से मट्टी लगाने तथा उसके लाभ उठाने से हम वंचित रहेंगे कि नहीं।

ऐसे ही मट्टी की तथा यावत् वस्तुओं की खानि हमारी धरती माता यदि निर्जीव होती रहेगी, जैसी आज कल हमारी बेपरवाई से होती जाती है तो इसमें भी कोई आश्चर्य है कि एक दिन हमारी जीवन-यात्रा ही कठिन हो जायगी, और जिन गऊमाता के लिए आप इतनी हाय २ कर रहे हैं उनका पालना भी महा दुर्घट हो जायगा। क्योंकि सबसे बड़ी तो यही धरतीमाता है। जब यही खाने को न देगी तब तक किसको कहाँ ठिकाना है। इसलिए देशवासी मात्र को चाहिए, यदि अपना और आगे आने वाली पीढ़ियों का सचमुच भला चाहते हैं तो सब बातों से पहिले धरती माता के प्रसन्न रखने का प्रयत्न करें। फिर दूसरे काम तो सहज में हो जायँगे। आज हम देखते हैं कि हमारी भारतभूमि ऐसी बलिहीन तनछीन हो रही है कि जिधर देखो उधर—

खेती ना किसान को, भिखारी को न भीख कहूँ,
बनिया को बनिज न चाकर को चाकरी,
जीविका-विहीन दीन छीन लोग आपस में,
एकन सों एक कहैं कहाँ जाई का करी।

—की दशा हो रही है। इस दशा में बड़े २ मनसूबे बांधना शेख चिल्ली के इरादे हैं! नहीं तो सम्पादकों, व्याख्यानदाताओं, लेखकों को चाहिये कि जहां और बातें सोचा करते हैं वहाँ धरती के पुष्ट रखने के उपाय भी सर्व साधारण को विदित करते रहें।

जड़ पदार्थ की पूजा के द्वेषी नेक विचार करें कि यदि इस पूजा में विमुख रहेंगे तो सारा धर्म और देशहितैषिता पोथियों ही में रह जायगी। मुख में बोलने की सामर्थ्य रहेगी नहीं, उस

हालत में करते धरते कुछ न बनेगा। नहीं तो हमारे इस वाक्य पर विश्वास करो कि धरती है भगवती का रूप, इसके प्रसन्न रखने ही मे सबका निर्वाह है, विश्वस्त बूढ़ों ने सुनने में आया है कि अभी ४० ही ५० वर्ष हुए, जिन खेतों में सौ २ मन अन्न उपजता था उनमें अब ४०।६० मन मुश्किल से होता है! यह धरती माता की पूजा न होने ही का फल है। यदि हम अब भी न चेतेंगे तो आगे को और भी अनिष्ट की संम्भावना है। अतः अभी से धरती माता की पूजा का उद्योग कीजिए। दूसरों को उपदेश दीजिए, जी में विचारिए कि इनके प्रसन्न रखने को कैसी पूजा चाहिए। फिर उस पूजा की विधि का सब में प्रचार कीजिए यही परम कर्त्तव्य है। हमारे दूसरे भाई भी सोचें तो क्या बात है, पर सोचने समझने के साथ यह भी विचार लेना चाहिए कि "करनी सार है कथनी खुआर"।

जिन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेक्चर सुने होंगे उनको स्मरण होगा कि संस्कृत मे वृक्ष को पादप कहते हैं। जिसका अर्थ है पाँव से पीने वाला अर्थात् उनके पाँव (जड़) में जल डालो तो वे पी लेते हैं। जैसे हम मुँह से जल दुग्धादिक पीते हैं तो वह सारे शरीर को शीतल कर देता है वैसे ही पेड़ की जड़ में पानी डालो तो उसके डाल-पात आदि को शीतल कर देता है, और पानी का जितना भाग पृथ्वी में होता है उसको वे स्वभावतः खींचा करते हैं। बड़े-बड़े आम, पीपल, महुवा आदि के पेड़ों को देखो वह बिना सींचे हरे रहते हैं। इसका कारण यही है कि वे धरती के स्वाभाविक जल को मूल द्वारा पीते रहते हैं इसी से जीवित रहते हैं और यह बात तो सब को विदित है कि पृथ्वी पर जितना जल है उसे सूर्यनारायण खींच लेते हैं। वही वर्षा में बरसा देते हैं। पर धरती में मिला हुआ या धरती के नीचे का जल सूर्य नहीं खींचते, क्योंकि धरती

उस जल की आड़ है। इससे धरती के नीचे का जल खींचने में सूरज को वृत्तों से सहायता मिलती है। उन्होंने खींच के अपने पत्र पुष्पादि में भर लिया, और पत्रादि पर सीधी सूर्य की किरणें पड़ीं, बस धरती के नीचे का जल भी मेघमंडल में पहुँच गया! विचार के देखिए तो नदी, ताल आदि से भी वृत्तों का जल शीघ्र सूर्यनारायण तक पहुँचता है, क्योंकि वह उनके अधिक पास हैं।

अब वाचकवृन्द विचार लें कि वृत्तों से धरती को कितनी तुष्टि होती है। वृष्टि के लिए वृत्तों से कितनी अधिक सहायता होती है। वृत्तों के निकट पवन भी शीतल और आरोग्यदायक होती है। यह बात अनपढ़े लोग भी देखते हैं कि जहाँ कई वृत्त होते हैं वहाँ वहाँ जाने से ग्रीषम का महा कठिन ताप भी बहुत शीघ्र जाता रहता है। फिर इस बात में क्या संदेह है कि धरती माता के लिए वृत्तों की बड़ी आवश्यकता है। इसी विचार पर पुराने राजा लोग नगरों के आस पास बड़े बड़े जंगल रखते थे। खुशामदी टट्टू कह देते हैं 'अगले बन्दोबस्त राजा करना नहीं जानते थे, इससे उनके शहरों के इर्द-गिर्द जंगल पड़े रहते थे। यह नहीं जानते कि जंगलों से लाभ कितना होता था। लाखों प्रकार की औषधि बिन जोते-बोए हाथ आती थी। शिकार खेलने का बड़ा सुभीता रहता था, जिससे शस्त्र-संचालन का अभ्यास रहता था। पत्ते, फल, फूल, छाल, लकड़ी का किसी को दरिद्र न रहता था। यदि जंगलों से क्या फल होता है, यह लिखने बैठें तो यह लेख बहुत ही बढ़ जायगा। बुद्धिमान पाठक स्वयं समझ लें कि धरती माता को वृत्तों से क्या सुख मिलता है।

पर खेद है कि हमारी गवर्नमेंट ने हमारे देश के वन उजाड़ने पर कमर बाँध रक्खी है, और उसकी देखा-देखी हमारे छोटे-छोटे जमींदार भी अपनी भूमि में बीघा भर धरती

भी पड़ी हुई देखते हैं तो किसानों को उठा देते हैं। जब से हमारे देश में वृक्षों का नाश होने लगा, तभी से हमारी धरती-माता जीर्ण हो गई। वर्षा की न्यूनता और रोगों की वृद्धि हो गई। यदि अब भी हमारे देशहितैषी भाई धरती का भला चाहते हैं तो वृक्ष और घास का नाश होना रोकें। लोगों को उपदेश देना, अपनी जमीन पर के पेड़ों को न काटना—सदा उनकी संख्या बढ़ाते रहना—सरकार से भी इस विषय में प्रार्थना करते रहना इत्यादि ही उपाय हैं। पीपल का वृक्ष पोला होता है, वह औरों से अधिक जल सींचता है। इसीसे उसका काटना वर्जित है। जहां तक हो सके उसको तो काटने से अवश्य ही बचाइए। बरगद, आंवला इत्यादि दूधवाले वृक्षों (जिनमें दूध निकलता है) से और भी अधिक उपकार है। आप जानते हैं, पानी की अपेक्षा दूध अधिक गुणकारी होता है, सो भी वृक्षों का दूध! जिसका प्रत्यक्ष फल यह है कि बरगद का दूध, गूलर के फल निर्बलों के लिए बड़ी भारी दवा है। भला उनसे सूर्यनारायण कितनी सहायता पाते हैं, तथा उनके काटने से कितना धरतीमाता को दुःख होता है, इसको हम थोड़े से पत्र में कहां तक लिख सकते हैं? हमारे रिखियों ने जेठ में वटपूजन एवं अन्यान्य मासों में दूसरे वृक्षों का पूजन कहा है, इसका हेतु यह था कि सूरज की प्रखर किरणें उनका दूध सुखा देती हैं वह घाटा उनकी जड़ में दूध डालके तथा फूल और अष्ट-गंध की सुगंध से पूरा करना चाहिये।

पर शोक है नये मतावलम्बियों की बुद्धि पर कि उन्होंने मूर्खता से ऐसी हिकमतों को जड़ वस्तु की उपासना समझा है! अरे भाई अपना भला चाहो तो मतवाले न बनो। प्रत्येक वृक्ष की रक्षा, वृद्धि और सनातन रीति से जल दुग्धादि द्वारा उनको सींचना स्वीकार करो।

———

आप

ले भला बतलाइए तो आप क्या हैं ? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं। यह कहाँ की आपदा आई ? यह भी कोई पूछने का ढंग है ? पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप ब्राह्मण-संपादक हैं, अथवा आप पंडितजी हैं, आप राजाजी हैं, आप सेठजी हैं, आप लालाजी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियां साहब, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं ? यह तो कोई प्रश्न की रीति ही नहीं है। वाचक महाशय ! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं, और हम भी यही हैं, तथा इन साहबों की भी लंबी धोती, चमकीली पोशाक, खुंटिहई अंगरखी, (मीरजई) सीधी मांग, विलायती चाल, लम्बी दाढ़ी और साहबानी हवस ही कहे देती है कि—

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिए,"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा ? इसीलिए कि देखें आप "आप" का ज्ञान रखते हैं वा नहीं ? जिस "आप" को आप अपने लिए तथा औरों के प्रति दिन रात मुंह पर

घरे रहते हैं, वह आप क्या है ? इसके उत्तर में आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है। जैसे मैं, तू, हम, तुम, यह, वह आदि हैं वैसे ही आप भी है, और क्या है। पर इतना कह देने से न हमीं संतुष्ट होंगे न आपही के शब्दशास्त्र-ज्ञान का परिचय होगा, इससे अच्छे प्रकार कहिए कि जैसे 'मैं' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिए बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू' का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता व प्रीति सूचित करने के अर्थ कुत्ते के सम्बोधन की नकल है। हम तुम संस्कृत के अहं त्वं का अपभ्रंश हैं, यह वह निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं, वैसे 'आप' क्या है ? किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है, और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है ?

हुजूर की मुलाज़मत से अक्ल ने इस्तेअफा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप लफ्ज़े फ़ारसी या अरबीस्त," अथवा "ओः इटिज़ एनइ इंगलिश वर्ड," जब यह नहीं है तो ख़ाहमख़ाह यह हिन्दी शब्द है, पर कुछ सिर पैर मूड़ गोड़ भी है कि योंही ? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत मे आप कहते हैं जल को, और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, तथा हिन्दी में पानी और फ़ारसी में आब का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुवा करता है, जैसे "पानी उतरि गा तरवारिन को उइ करछुलि के मोल विकायं", तथा "पानी उतरिगा रजपूती का उइ फिर विसुऔते (वेश्या से भी) घटि जांय," और फ़ारसी में 'आबरू खाक में मिला बैठे' इत्यादि।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से आप पुकारने लगे होंगे। यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का

अर्थ अवश्य निकल आवैगा, पर खींचखांच कर, और साथ ही यह शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, वारि, अम्बु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं उनका प्रयोग क्यों नहीं करते, "आप" ही के सुर्खाब का पर कहाँ लगा है ? अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिए तो युक्तियुक्त हो सकता है, पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप आप कहा करते हैं, यह आपकी कौन सी विज्ञता है ? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या आप हमको मुंह से आप-आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं ? हमें निश्चय है कि आप पानीदार होंगे तो इस बात के उठते ही पानी पानी हो जायंगे, और फिर कभी यह शब्द मुँह पर भी न लावेंगे।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप आप की बोली बोलते भी नहीं हैं। एक हमारे उर्दूदां मुलाक़ाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायतवालों के आगे आप आप न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर यह इस बात को न माने, हमने दो चार बार समझाया, पर यह 'आप' थे, क्यों मानने लगे ? इस पर हमें झुंझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और 'आप' का शब्द मुंह पर लाते ही हमने कह दिया कि आपकी ऐसी तैसी ? यह क्या बात है कि तुम मित्र बन कर हमारा कहना नहीं मानते ? प्यार के साथ तू कहने में जितना स्वादु आता है उतना बनावट से आप सांप कहो तो कभी सपने में नहीं आने का।' इस उपदेश को यह मान गये। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र में, कोई बंधन न होने

पर भी, इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, वरंच नहीं के बराबर होता है।

हिन्दी की कविता में हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाए हैं, एक तो आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिये', पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रन्थ का है, और न इसका आशय स्नेह-सम्बद्ध है। किसी जले भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी "आप" की पूछ है। दूसरी घनानन्दजी की यह सवैया है—"आपही तौ मन हेरि हरयो तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालम्भ है, इससे हमारा यह कथन कोई खंडन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में "आप" का आदर नहीं है, तू ही प्यारा है।

संस्कृत और फ़ारसी के कवि भी त्वं और तू के आगे भवान् और शुमा (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं करते। पर इससे आपको क्या मतलब? आप अपनी हिन्दी के 'आप' का पता लगाइये, और न लगें तो हम बदला देंगे। संस्कृत में एक आप्त शब्द है, जो सर्वथा माननीय ही अर्थ में आता है, यहां तक कि न्यायशास्त्र मे प्रमाण-चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द) के अन्तर्गत शाब्द प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि 'आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के सामान ही प्रामाणिक होता है, वा यों समझ लो कि आप्तजन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्द-बद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्य-भाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है, और देवनागरी भाषा में आप्त शब्द सब के उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता, इससे उसे सरल करके आप बना लिया गया है, और

मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुषों के अत्यन्त आदर का द्योतन करने में काम आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह बड़े सज्जन हैं'—ऐसा कहने से सच्चे मित्र बनावट के शत्रु चाहे जैसे "पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता" हो जायँ, पर व्यवहार-कुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सन्मान समझेंगे जब कहा जाय कि "आपका क्या कहना है, "आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं" इत्यादि।

अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं, यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ से भी न समझे हों तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के आप्त शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, और माननीय अर्थ की सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान् हों, चाहे बातें करते हों, चाहे बात करने वालों के द्वारा पूछे बताए जा रहे हों अथवा दो वा अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है, वहाँ भी शब्द और अर्थ यही रहता है; पर विशेषता यह रहती है कि एक तो सब कोई अपने मन से आपको (अपने तईं) आप ही (आप्त ही) समझता है, और विचार कर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जाने पड़ती, पर बाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गंध समझिए तो यों समझ लीजिए कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है, और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है, और उसी के विदित करने को हम और आप तथा यह एवं वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे' अर्थात् कोई संदेह नहीं है कि हमसे यह कार्य सम्पादित हो

जायगा, 'हम आप जानते हैं', अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के आपाजी भी उन्नीस विस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गए हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबों के अब्ब (पिता बोलने में अब्बा) और यूरोपीय भाषाओं के पापा (पिता) पोप (धर्म-पिता) आदि भी इसी आप से निकले हैं। हाँ, इसके समझने समझाने में भी जी ऊबे तो अंगरेजी के एबाट (Abot महंत) तो इसके हई हैं क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों अकार का स्थानापन्न A है, और "पकार" का "बकार" से बदल लेना कई भाषाओं की चाल है। रही टी (T) सो वह तो "तकार" हुई है। फिर क्या न मान लीजिएगा कि एबाट साहब हमारे 'आप' बरञ्च शुद्ध आप्त से बने है।

हमारे प्रान्त में बहुत से उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई २ लोग समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है, पर यह उनकी समझ ठीक नहीं है, मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा, और हिन्दू सन्तान के पक्ष में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता, यह अंगरेजो की तकार और फारस वालों की टकार नहीं है कि मुहीं से न निकले, और सदा मोती का मोटी अर्थात् स्थूलांगा स्त्री और खस की टट्टी का तत्ती अर्थात् गरम ही हो जाय। फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा! हाँ, आप्त से आप और अप्पा तथा आपा की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने अब्बा में रूपांतरित कर लिया होगा, क्योंकि उनकी वर्णमाला में "पकार" (पे) नहीं होती। सौ विस्वा बप्पा, बाप, बापू, बब्बा, बाबा, बाबू आदि भी इसी से निकले हैं, क्योंकि जैसे एशिया की कई

बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व 'फकार' से बदल देते हैं, जैसे पादशाह-बादशाह और पारसी-फारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं मे शब्द के आदि में 'बकार' भी मिला देते हैं, जैसे वक्ते शब-बवक्तै शब तथा तंगआमद-बतंगआमद इत्यादि, और शब्द के आदि की ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है जैसे अमावस का मावस, (सतसई आदि ग्रंथों में देखो) ह्रस्व अकारांत शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाती है, जैसे एक-एकु, स्वाद-स्वादु आदि। अथच ह्रस्व को दीर्घ दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ, आदि की वृद्धि वा लोप भी हुवा ही करता है, फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का संपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो वह प्रायः समस्त संसार के शब्द हमारे आप महाशय वा आप ही के उलट फेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गये न, कि आप क्या हैं? अब भी न समझो तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं! हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी छदाम की समझ किसी पंसारी के यहां से मोल ले आइए, फिर आप ही समझने लगियेगा कि आप "को हैं? कहाँ के हैं? कौन के हैं?" यदि यह भी न हो सके, और लेख पढ़ के आपे से बाहर हो जाइए तो हमारा क्या अपराध है? हम केवल जी में कह लेंगे "शाब। आप न समझो तो आपां को के पड़ी छै।" ऐं! अब भी नहीं समझे? वाह रे आप!

बात

यदि हम वैद्य होते तो कफ और पित्त के सहवर्ती बात की व्याख्या करते तथा भूगोलवेत्ता होते तो किसी देश के जल-बात का वर्णन करते किन्तु इन दोनों विषयों में हमें एक बात के कहने का भी प्रयोजन नहीं है। हम तो केवल उसी बात के ऊपर दो चार बातें लिखते हैं जो हमारे तुम्हारे सम्भाषण के समय मुख से निकल-निकल के पर-पर-हृदयस्थ भाव को प्रकाशित करती रहती है। सच पूछिए तो इस बात की भी क्या बात है जिसके प्रभाव से मानव-जाति समस्त जीवधारियों की शिरोमणि—अशरफुलमख़लूक़ात—कहलाती है। शुकसारिकादि पक्षी केवल थोड़ी सी समझने योग्य बातें उच्चारित कर सकते हैं। इसी से अन्य नभचारियों की अपेक्षा आदृत समझे जाते हैं। फिर कौन न मान लेगा कि बात की बड़ी बात है। हाँ बात की बात इतनी बड़ी है कि परमात्मा को लोग निराकार कहते हैं तो भी इसका सम्बन्ध उसके साथ लगाये रहते हैं। वेद ईश्वर का वचन है, क़ुरानशरीफ कलामुल्लाह है, होली बाइबिल वर्ड आफ़ गॉड है; यह वचन, कलाम और वर्ड बात ही के पर्याय हैं जो प्रत्यक्ष में मुख के बिना स्थित नहीं कर सकती पर बात की महिमा के अनुरोध से सभी धर्मावलम्बियों ने "बिन बानी वक्ता बड़ योगी"

वाली बात मान रक्खी है। यदि कोई न माने तो लाखों बातें बना के मानने पर कटिबद्ध रहते हैं। यहाँ तक कि प्रेम सिद्धान्ती लोग निरवयव नाम से मुँह बिचकावेंगे, "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" पर हठ करने वाले को यह कहकर बातों में उड़ावेंगे कि "हम लँगड़े लूले हमारा प्यारा तो कोटि काम सुन्दर श्याम वर्ण विशिष्ट है"। निराकार शब्द का अर्थ श्री शालिगराम शिला है जो उसकी श्यामता का द्योतन करती है अथवा योगाभ्यास का आरम्भ करने वाले को आँखें मूँदने पर जो कुछ पहले दिखाई देता है वह निराकार अर्थात् बिलकुल काला रङ्ग है। सिद्धान्त यह कि रङ्ग रूप रहित रङ्ग को सब रङ्ग रञ्जित एवं अनेक रूप सहित ठहरावेंगे किन्तु कानों अथवा प्रानों वा दोनों को प्रेम रस से सिञ्चित करनेवाली उसकी मधुर मनोहर बातों के मजे से अपने को वञ्चित न करने देंगे! जब परमेश्वर तक बात का प्रभाव पहुँचा हुआ है तो हमारी कौन बात रही? हम लोगों को तो 'गात माँहि बात करामात है'; नाना शास्त्र पुराण इतिहास काव्य कोश इत्यादि सब बात ही के फैलाव हैं। जिनके मध्य एक-एक बात ऐसी पाई जाती है जो मन बुद्धि चित्त को अपूर्व दशा में ले जानेवाली अथच लोक-परलोक में सब बात बनानेवाली है। यद्यपि बात का कोई रूप नहीं बतला सकता कि कैसा है, पर बुद्धि दौड़ाइए तो ईश्वर की भाँति इसके भी अगणित ही रूप पाइएगा। बड़ी बात, छोटी बात, सीधी बात, टेढ़ी बात, खरी बात, खोटी बात, मीठी बात, कड़वी बात, भली बात, बुरी बात, सुहानी बात, लगती बात इत्यादि सब बात ही तो हैं! बात के काम भी इसी भाँति अनेक देखने में आते हैं। प्रीति, बैर, सुख, दुःख, श्रद्धा, घृणा, उत्साह, अनुत्साहादि जितनी उत्तमता और सहजतया बात के द्वारा विदित हो सकते हैं दूसरी रीति से वैसी सुविधा ही नहीं

यहीं घर बैठे लाखों कोस का समाचार मुख और लेखनी से निर्गत बात ही बतला सकती है। डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में, चाहे जहाँ की जो बात हो, जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, हमारे-तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। "बातहि हाथी पाइए बातहि हाथी पाँव"—बात ही से पराये अपने और अपने पराये हो जाते हैं। मक्खीचूस उदार तथा उदार स्वल्पव्ययी, कापुरुष युद्धोत्साही एवं युद्धप्रिय, शान्ति शोक, कुमार्गी सुपथगामी, अथच सुपंथी कुराही इत्यादि बन जाते हैं। बात का तत्त्व समझना हर एक का काम नहीं है और दूसरों की समझ पर आधिपत्य जमाने योग्य बात गढ़ सकना ऐसों-वैसों का साथ नहीं है। बड़े-बड़े विज्ञवरों तथा महा-महा कवीश्वरों के जीवन बात ही के समझने और समझाने में व्यतीत हो जाते हैं। सहृदयगण की बात के आनन्द के आगे सारा संसार तुच्छ जँचता है। बालकों की तोतली बातें, सुन्दरियों की मीठी-मीठी प्यारी-प्यारी बातें, सत्कवियों की रसीली बातें, सुवक्ताओं की प्रभावशालिनी बातें, जिसके जी को और का और न कर दें उसे पशु नहीं पाषाण-खण्ड कहना चाहिए; क्योंकि कुत्ते-बिल्ली आदि को विशेष समझ नहीं होती तो भी पुचकार के तू-तू पूसी-पूसी इत्यादि बातें कह दो तो भावार्थ समझ के यथासामर्थ्य स्नेह-प्रदर्शन करने लगते हैं। फिर वह मनुष्य कैसा जिसके चित्त पर दूसरे हृदयवान् की बात का असर न हो। बात वह आदरणीय बात है कि भलेमानस बात और बाप को एक समझते हैं। हाथी के दाँत की भाँति उनके मुख से एक बार कोई बात निकल आने पर फिर कदापि नहीं पलट सकती।

हमारे परम पूजनीय आर्यगण अपनी बात का इतना पक्ष करते हैं कि 'तन तिय तनय धाम धन धरनी; सत्यसन्ध कहँ तृन सम बरनी' अथच 'प्रानन ते सुत अधिक है सुत ते अधिक परान, ते दूनों दशरथ तजे वचन न दीन्हों जान' इत्यादि उनकी अक्षर-संबद्धा कीर्ति सदा संसार-पट्टिका पर सोने के अक्षरों से लिखी रहेगी; पर आजकल के बहुतेरे भारत-कुपुत्रों ने यह ढङ्ग पकड़ रक्खा है 'मर्द की जबान और गाड़ी का पहिया चलता ही फिरता रहता है'। आज और बातें हैं, कल ही स्वार्थान्धता के वश हुजूरों की मरजी के मुवाफ़िक़ दूसरी बातें हो जाने में तनिक भी विलम्ब की सम्भावना नहीं है। यद्यपि कभी-कभी अवसर पड़ने पर बात के कुछ अंश का रङ्ग-ढङ्ग परिवर्तित कर लेना नीति-विरुद्ध नहीं है, पर कब ? जात्योपकार (?) देशोद्धार आर्यकुलरत्नों के अनुगमन की सामर्थ्य नहीं है किन्तु हिन्दुस्तानियों के नाम पर कलङ्क लगाने को भी सहमार्गी बनने में घिन लगती है। इससे यह रीति अङ्गीकार कर रक्खी है कि चाहे कोई बड़ा बतकहा अर्थात् बातूनी कहे, चाहे यह समझे कि बात करने का भी शऊर नहीं है किन्तु अपनी मति के अनुसार ऐसी बातें बनाते रहना चाहिए जिनमें कोई न कोई किसी न किसी के वास्तविक हित की बात निकलती रहे पर खेद है कि हमारी बातें सुनने वाले उँगलियों ही पर गिनने भर को हैं। इससे बात बात में बात निकालने का उत्साह नहीं होता। । अपने जी को क्या बने बात जहाँ बात बनाये न बने इत्यादि विदग्धालापों की लेखनी से निकली हुई बातें सुना के कुछ फुसला लेते हैं और बिन बात की बात को बात का बतबढ़ समझके बहुत बात बढ़ाने से हाथ समेट लेना ही समझते हैं कि अच्छी बात है।

परीक्षा

यह तीन अक्षर का शब्द ऐसा भयानक है कि त्रैलोक्य की बुरी बला इसी में भरी है। परमेश्वर न करे कि इसका सामना किसी को पड़े! महात्मा मसीह ने अपने निज शिष्यों को एक प्रार्थना सिखाई थी, जिसको आज भी सब किस्तान पढ़ते हैं, उसमें एक यह भी भाव है कि "हमें परीक्षा में न डाल, बरंच बुराई से बचा"। परमेश्वर करे सब की मुंदी भलमंसी चली जाय, नहीं तो उत्तम से उत्तम सोना भी जब परीक्षार्थ अग्नि पर रक्खा जाता है तो पहिले कांप उठता है, फिर उसके यावत् परिमाण, सब छितर बितर हो जाते हैं। यदि कहीं कुछ खोट हुई तो जल ही जाता है, घट जाता है। जब जड़ पदार्थों की यह दशा है तब चैतन्यों का क्या कहना है! हमारे पाठकों में कदाचित् ऐसा कोई न होगा जिसने बाल्यावस्था में कहीं पढ़ा न हो महाशय उन दिनों का स्मरण कीजिए, जब इम्तहान के थोड़े दिन रह जाते थे। क्या सोते, जागते, उठते, बैठते हर घड़ी एक चिन्ता चित्त पर न चढ़ी रहती थी। पहिले से अधिक परिश्रम करते थे तो भी दिन रात देवी-देवता मनाते बीतता था। देखिए,

क्या हो, परमेश्वर कुशल करे। सच है, यह अवसर ही ऐसा है। परीक्षा में ठीक उतरना हर किसी के भाग्य में नहीं है!

जिन्हें हम आज बड़ा पंडित, धनी, बड़ा बली, महा देश-हितैषी, महा सत्यसंध, महा निष्कपट मित्र समझे बैठे हैं, यदि उनकी ठीक ठीक परीक्षा करने लगें तो कदाचित् की सैकड़ा दो ही चार ऐसे निकलें जो सचमुच जैसे बनते हैं वैसे ही बने रहें? वेश्याओं के यहाँ यदि दो चार मास आपकी बैठक रही हो तो देखा होगा, कैसे २ प्रतिष्ठित, कैसे २ सभ्य, कैसे कैसे धर्मध्वजी वहां जाकर क्या क्या लीला करते हैं! यदि महाजनों से कभी काम पड़ा हो तो आपको निश्चय होगा कि प्रगट में जो धर्म, जो ईमानदारी, जो भलमंसी दीख पड़ती है वह गुप्तरूपेण के जनों में कहां तक है! जिन्हें यह विश्वास हो कि ईश्वर हमारे कामों की परीक्षा करता है, अथवा संसार में हमें परीक्षार्थ भेजा है उनके अन्तःकरण की गति पर हमें दया आती है। हमने तो निश्चय कर लिया है कि परीक्षा वरीक्षा का क्या काम है, हम जो कुछ हैं उस सर्वज्ञ सर्वांतरयामी से छिपा नहीं है। हम पापात्मा, पाप-संभव भला उसके आगे परीक्षा में कै पल ठहरेंगे?

संसार में संसारी जीव निस्सन्देह एक दूसरे की परीक्षा न करें तो काम न चले, पर उस काम के चलने में कठिनाई यह है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है, अतः प्रत्येक विषय का पूर्ण निश्चय संभव नहीं। न्याय यदि कोई वस्तु है, और यह बात यदि निस्सन्देह सत्य है कि निर्दोष अकेला ईश्वर है तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिसकी परीक्षा १०० बार कर लीजिए उसकी ओर से भी सन्देह बना रहना कुछ आश्चर्य नहीं है! फिर इस बात को कौन कहेगा कि परीक्षा उलझन का विषय नहीं है। कपटी ही लोग बहुधा मिष्टभाषी और शिष्टाचारी होते हैं, थोड़े

ही मूल्य की धातु में अधिक ठनठनाहट होती है, थोड़ी ही योग्यता में अधिक आडम्बर होता है, फिर यदि परीक्षक धोखा खा जाय तो क्या अचंभा है। सब गुणों में पूरा अकेला परमात्मा है, अतः ठीक परीक्षा पर जिसकी क़लई न खुल जाय उसी के धन्य भाग! हमने भी स्वयं अनुभव किया है कि बरसों जिनके साथ बदनाम रहे, बीसियों हानियां सहीं, कई बार अपना सिर फुड़वाने को और प्राण देने या कारागार जाने को उद्यत हो गये, उनके दोष अपने ऊपर ले लिये, और वे भी सदा हमारी बात २ पर अपना चुल्लू भर लोहू सुखाते रहे, सदा कहते रहे, जहां तेरा पसीना गिरेगा वहां हमारा मृत शरीर पहले गिर लेगा, पर जब समय आया, कि चोरों के सामने हमारी इज्ज़त न रहे, तो उन्हीं महाशयों ने कटी उङ्गली पर न मूता!

× × × ×

कहाँ तक कहें परीक्षा सब को खलती है! क्या ही अच्छा होता जो सब से सब बातों में सच्चे होते, और जगत् में परीक्षा का काम न पड़ा करता! वह बड़भागी धन्य है जो अपना भर-माला लिये हुए जीवन-यात्रा को समाप्त कर दे।

वृद्ध

इन महापुरुष का वर्णन करना सहज काम नहीं है। यद्यपि अब इनके किसी अङ्ग में कोई सामर्थ्य नहीं रही अतः इससे किसी प्रकार की ऊपरी सहायता मिलना असम्भव सा है, पर हमें उचित है कि इनसे डरें, इनका सम्मान करें और इनके थोड़े से बचे-खुचे जीवन को गनीमत जानें; क्योंकि इन्होंने अपने बाल्यकाल में विद्या के नाते चाहे काला अक्षर भी न सीखा हो, युवावस्था में चाहे एक पैसा भी न कमाया हो तथापि संसार की ऊँच-नीच का इन्हें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक अनुभव है; इसी से शास्त्र की आज्ञा है कि वयोधिक शूद्र भी द्विजाति के लिए माननीय है। यदि हममें बुद्धि हो तो इनसे पुस्तकों का काम ले सकते हैं, वरञ्च पुस्तक पढ़ने में आँखों की तथा मुख को कष्ट होता है, न समझ पड़ने पर दूसरों के पास दौड़ना पड़ता है, पर इनसे केवल इतना कह देना बहुत है कि हाँ, बाबा फिर क्या हुआ? हाँ, बाबा ऐसा हो तो कैसा हो? बस बाबा साहब अपने-जीवन भर का आंतरिक कोष खोलकर रख देंगे। इसके अतिरिक्त इनसे डरना इसलिए उचित है कि हम क्या

हैं, हमारे पूज्य पिता, दादा, ताऊ भी इनके आगे के छोकड़े थे। यदि यह बिगड़ें तो किसकी कलई नहीं खोल सकते? किसके नाम पर गट्टा सी नहीं सुना सकते? इन्हें सङ्कोच किसका है? चक्की के सिवा इन्हें कोई कलंक ही क्या लगा सकता है? जब यह आप ही चिता पर एक पाँव रखे बैठे हैं, क़ब्र में पाँव लटकाये हुए हैं, तब इनका कोई कर क्या सकता है? यदि इनकी बातें-कुबातें हम न सहें तो करें क्या? यह तनिक सी बात में कुपित और कुंठित हो जायँगे और असमर्थता के कारण सच्चे जी से शाप देंगे, जो वास्तव में बड़े-बड़े तीक्ष्ण शस्त्रों की भाँति अनिष्ट-कारक होगा। जबकि महात्मा कबीर के कथनानुसार मरी खाल की हाय से लोहा तक भस्म हो जाता है तब इनकी पानी-भरी खाल की हाय कैसा कुछ अमंगल नहीं कर सके! इससे यही न उचित है कि इनके सच्चे अशक्त अंतःकरण का आशीर्वाद लाभ करने का उद्योग करें; क्योंकि समस्त धर्म-पंथों में इनका आदर करना लिखा है, सारे राजनियमों में इनके लिये पूर्ण दंड की विधि नहीं है और सोच देखिये तो यह दया-पात्र जीव हैं, क्योंकि सब प्रकार पौरुष से रहित हैं, केवल जीभ नहीं मानती, इससे आँय-बाँय-शाँय किया करते हैं या अपनी खटिया पर थूकते रहते हैं। इसके सिवा किसी का कुछ बिगाड़ते ही नहीं हैं। हाँ, इस दशा में दुनिया के झंझट छोड़ के भगवान् का भजन नहीं करते, वृथा चार दिन के लिए झूठी हाय हाय में कुढ़ते-कुढ़ाते रहते हैं। यह बुरा है। पर इसके लिए क्यों इनकी निन्दा की जाय? आजकल बहुतेरे मननशील युवक कहा करते हैं कि बुड्ढे खबीसों के मारे कुछ नहीं होने पाता, वे अपनी पुरानी अकिल के कारण प्रत्येक देश-हितकारक नव विधान में विघ्न खड़ा कर देते हैं। हमारी समझ में यह कहनेवालों की भूल है, नहीं तो सब लोग एक ही से नहीं होते। यदि हिकमत के साथ राह पर लाये जायँ तो बहुत से

बुड्ढे ऐसे निकल आवेंगे, जिनसे अनेक युवकों को अनेक भाँति की मौखिक सहायता मिल सकती है। रहे वे बुड्ढे, जो सचमुच अपनी सत्यानाशी लकीर के फकीर अथवा अपने ही पापी पेट के गुलाम हैं। वे पहले हई कै जने ? दूसरे अब वह समय नहीं रहा कि उनके कुलक्षण किसी से छिपे हों। फिर उनका क्या डर ? चार दिन के पाहुन, कछुआ, मछली अथवा कीड़ो की परसी हुई थाली, कुछ अमरौती खाके आये हैं नहीं, कौवे के बच्चे हई नहीं, बहुत जियेंगे दस वर्ष। इतने दिन मर-पचके दुनिया भर का पीकदान बन के दस लोगों के तलवे चाटके अपने स्वार्थ के लिये पराये हित में बाधा करेंगे भी तो कितनी; सो भी जब देश-भाइयों का एक बड़ा समूह दूसरे ढर्रे पर जा रहा है तब आखिर थोड़े ही दिन में आज मरे कल दूसरा दिन होना है। फिर उनके पीछे हम अपने सदुद्योगों में त्रुटि क्यों करें ? जब थोड़ी सी घातों की जिन्दगी के लिये वे अपना धंढंगापन नहीं छोड़ते तो हम अपनी वृहज्जीवनाशा में स्वधर्म क्यों छोड़ें ? हमारा यही कर्तव्य है कि उनकी शुश्रूषा करते रहें, क्योंकि भले हों या बुरे; पर हैं हमारे ही, अतः हमें चाहिये कि अदब के साथ उन्हें संसार की अनित्यता अथवा ईश्वर, धर्म, देशोपकार एवं बंधुवात्सल्य की सभ्यता का निश्चय कराते रहें। सदा समझाते रहें कि हमारे तो तुम बाबा ही हो। अगले दिनों के ऋषियों की भाँति विद्यावृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध हो तो भी बाबा हो और बाबा लोगों की भाँति 'आपन पेट हाहू, मैं ना देहौं काहू' का सिद्धांत रखते हो तो भी वयोवृद्ध के नाते बाबा ही हो, पर इतना स्मरण रखो कि अब जमाने की चाल वह नहीं रही, जो तुम्हारी जवानी में थी। इससे उत्तम यह कि इस वाक्य को गाँठी बाँधो कि चाल वह चल कि 'पसेमर्ग' मुझे याद करें। काम यह कर कि जमाने में तेरा नाम रहे—नहीं तो परलोक में बैकुंठ पाने पर भी इसे थूक २ के नरक बना लोगे,

इस लोक का तो कहना ही क्या है। अभी थूक खखार देख कुटुँब वाले घृणा करते हैं, यदि वर्तमान करतूतें विदित हो गईं तो सारा जगत् सदा थुड़ थुड़ करेगा। यों तो मनुष्य की देह ही क्या है, जिसके यावदवयव घृणामय हैं, केवल बनाने वाले की पवित्रता के निहोरे श्रेष्ठ कहलाते हैं, नहीं तो निरी खारिज खराब हाल खाल की खलीती है, तिस पर भी यदि भगवच्चरणानुसरण एवं सदाचरण न हो सका तो हम क्या हैं राह चलने वाले तक धिक्कारेंगे और कहेंगे कि—'कहा धन धामै धरि लेहुगे सरा मैं भये जीरन तऊ रामै न भजत हौ'—यदि समझ जाओगे तो अपना लोक परलोक बनाओगे, दूसरों के लिये उदाहरण काम में लाओगे, नहीं तो हमें क्या है, हम तो अपनी वाली किये देते हैं, तुम्हीं अपने किये का फल पाओगे। लोग कहते हैं कि बारह बरस वाले को वैद्य क्या है? तुम तो परमात्मा की दया से पँचगुने छगुने दिन भुगता बैठे हो, तुम्हें तो चाहिये कि दूसरों को समझाओ; पर यदि स्वयं कर्तव्याकर्तव्य न समझो तो तुम्हें तो क्या कहें हमारी समझ को धिक्कार है, जो ऐसे वाक्य-रत्न ऐसे कुत्सित ठौर पर फेंका करती है।

दांत

इस दो अक्षर के शब्द तथा इन थोड़ी सी छोटी २ हड्डियों में भी उस चतुर कारीगर ने यह कौशल दिखलाया है कि किस के मुँह में दांत हैं जो पूरा २ वर्णन कर सके। मुख की सारी शोभा और यावत् भोज्य पदार्थों का स्वादु इन्हीं पर निर्भर है। कवियों ने अलक, (जुल्फ) भ्रू (भौं) तथा बरुणी आदि की छवि लिखने में बहुत २ रीति से बाल की खाल निकाली है, पर सच पूछिए तो इन्हीं की शोभा से सब की शोभा है। जब दांतों के बिना पुपला सा मुंह निकल आता है, और चिबुक (ठोढ़ी) एवं नासिका एक में मिल जाती हैं उस समय सारी सुघराई मट्टी में मिल जाती है। नैन-बाण की तीक्ष्णता, भ्रू-चाप की खिंचावट और अलक-पन्नगी का विष कुछ भी नहीं रहता।

कवियों ने इसकी उपमा हीरा, मोती, माणिक से दी है। वह बहुत ठीक है, वरंच यह अवयव कथित वस्तुओं से भी अधिक मोल के हैं। यह वह अंग है जिसमें पाकशास्त्र के छहों रस एवं काव्यशास्त्र के नवों रस का आधार है। खाने का

मजा इन्हीं से है। इस बात का अनुभव यदि आपको न हो तो किसी बुड्ढे से पूछ देखिए, सिवाय सतुआ चाटने के और रोटी को दूध में तथा दाल में भिगोके गले के नीचे उतार देने के दुनियांभर की चीजों के लिए तरस ही के रह जाता होगा। रहे कविता के नौ रस, सो उनका दिग्दर्शनमात्र हम से सुन लीजिए:—

शृङ्गार का तो कहना ही क्या है! ऐसा कवि शायद कोई ही हो जिसने सुन्दरियों की दन्तावली तथा उनके गोरे गुदगुदे गोल कपोल पर रदच्छद (दन्त-दाग) के वर्णन में अपने क़लम की कारीगरी न दिखाई हो! आहा हा! मिस्सी तथा पान-रङ्ग रंगे अथवा योंही चमकदार चटकीले दांत जिस समय बातें करने तथा हंसने में दृष्टि आते हैं उस समय रसिकों के नयन और मन इतने प्रमुदित होजाते हैं कि जिनका वर्णन गूंगे की मिठाई है! हास्य रस का तो पूर्ण रूप ही नहीं जमता जब तक हंसते हंसते दांत न निकल पड़ें। करुणा और रौद्र रस में दुःख तथा क्रोध के मारे दांत अपने होंठ चबाने के काम आते हैं, एवं अपनी दीनता दिखाके दूसरे को करुणा उपजाने में दांत दिखाए जाते हैं। रिस में भी दांत पीसे जाते हैं। सब प्रकार के वीर रस में भी सावधानी से शत्रु की सैन्य अथवा दुःखियों के दैन्य अथवा सत्कीर्ति की चाट पर दांत लगा रहता है। भयानक रस के लिए सिंह-व्याघ्रादि के दांतों का ध्यान कर लीजिए, पर रात को नहीं, नहीं तो सोते से चौंक भागोगे। वीभत्स रस का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो किसी जैनियों के जैनी महाराज के दांत देख लीजिए, जिनकी छोटी सी स्तुति यह है कि मैल के मारे पैसा चपक जाता है। अद्भुत रस में तो सभी आश्चर्य की बात देख सुनके दांत बाय, मुंह फैलाय

के हक्का बक्का रह जाते हैं। शान्त रस के उत्पादनार्थ श्री-शंकराचार्य स्वामी का यह पद महामंत्र है—

भज गोविंदं भज गोविंदं गोविंदं भज मूढ़मते।

सच है, जब किसी काम के न रहे तब पूछे कौन?

दांत खियाने खुर घिसे, पीठ बोझ नहिं लेइ।

जिस समय मृत्यु की दाढ़ के बीच बैठे हैं, जल के कछुए, मछली, स्थल के कौआ, कुत्ता आदि दांत पैने कर रहे हैं, उस समय में भी यदि सत चित्त से भगवान का भजन न किया तो क्या किया? आपकी हड्डियां हाथी के दांत तो हुई नहीं कि मरने पर भी किसी के काम आवेंगी। जीते जी संसार में कुछ परमार्थ बना लीजिए, यही बुद्धिमानी है। देखिए, आपके दांत ही यह शिक्षा दे रहे हैं कि जबतक हम अपने स्थान, अपनी जाति (दन्तावली) और अपने काम में दृढ़ हैं तभी तक हमारी प्रतिष्ठा है। यहाँ तक कि बड़े २ कवि हमारी प्रशंसा करते हैं, बड़े २ सुन्दर मुखारविन्दों पर हमारी मोहर 'छाप' रहती है। पर मुख से बाहर होते ही हम एक अपावन, घृणित, और फेंकने योग्य हड्डी हो जाते हैं—

"मुख में मानिक सम दशन बाहर निकसत हाड़"

हम जानते हैं कि नित्य यह देखके भी आप अपने मुख्य देश भारत और अपने मुख्य सजातीय हिन्दू-मुसलमानों का साथ तन-मन-धन और प्रान-पन से क्यों नहीं देते? याद रखिए—

'स्थान भ्रष्टा न शोभंते, दंता केशा नखा नराः'।

हां, यदि आप इसका यह अर्थ समझें कि कभी किसी दशा में हिन्दुस्तान छोड़के विलायत जाना स्थान-भ्रष्टता है तो यह आपकी भूल है। हंसने के समय मुँह से दांतों का निकल पड़ना नहीं कहलाता, वरञ्च एक प्रकार की शोभा होती है। ऐसे ही

आप स्वदेश-चिन्ता के लिए कुछ काल देशान्तर में रह आएं तो आपकी बड़ाई है। पर हां, यदि वहां जाके वहीं की ममता ही छोड़ दीजिए तो आपका जीवन उन दांतों के समान है जो होंठ या गाल कट जाने से अथवा किसी कारण-विशेष से मुंह के बाहर रह जाते हैं, और सारी शोभा खोके भेड़िए कैसे दांत दिखाई देते हैं। क्यों नहीं, गाल और होंठ दांतों का परदा है, जिसके परदा न रहा, अर्थात् स्वजातित्व की गैरतदारी न रही, उसकी निरलज्ज जिंदगी व्यर्थ है। कभी आपको दाढ़ की पीड़ा हुई होगी तो अवश्य यह जी चाहा होगा कि इसे उखड़वा डालें तो अच्छा है। ऐसे ही हम उन स्वार्थ के अंधों के हक़ में मानते हैं जो रहें हमारे साथ, बनें हमारे ही देश-भाई, पर सदा हमारे देश-जाति के अहित ही में तत्पर रहते हैं! परमेश्वर उन्हें या तो सुमति दे या सत्यानाश करे। उनके होने का हमें कौन सुख? हम तो उनकी जैजैकार मनावेंगे जो अपने देशवासियों से दांत काटी रोटी का वर्ताव (सची गहरी प्रीति) रखते हैं। परमात्मा करे कि हर हिन्दू-मुसलमान का देशहित के लिए चाव के साथ दांतों पसीना आता रहे। हमसे बहुत कुछ नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त कर रक्खा है कि—

'कायर कपूत कहाय, दांत दिखाय भारत तम हरौ',

कोई हमारे लेख देख दांतों तले उंगली दबाके सूझबूझ की तारीफ करे, अथवा दांत बाय के रह जाय, या अरसिकतावश यह कह दे कि कहां की दांताकिलकिल लगाई है तो इन बातों की हमें परवा नहीं है। हमारा दांत जिस ओर लगा है, वह लगा रहेगा, औरों की दंतकटाकट से हमको क्या?

× × × ×

अतः हम इस दंतकथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते हैं कि आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं, अतः हमें योग्य है कि जैसे बत्तिस दांतों के बीच जीभ रहती है वैसे रहें, और अपने देश की भलाई के लिए किसी के आगे दांतों में तिनका दबाने तक में लज्जित न हो, तथा यह भी ध्यान रक्खें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास-योग्य नहीं है। हाथी के दांत खाने के और होते हैं, दिखाने के और।

स्वतंत्र

हमारे बाबू साहब ने बरसों स्कूल की खाक छानी है, बीसियों मास्टरों का दिमाग़ चाट डाला है, विलायत भर के ग्रन्थ चरे बैठे हैं; पर आज तक हिस्ट्री, जियोमरी आदि रटाने में विद्या-विभाग के अधिकारीगण जितना समय नष्ट कराते हैं, उसका शतांश भी स्वास्थ्य-रक्षा और सदाचार-शिक्षा में लगाया जाता हो तो बतलाइए! यही कारण है कि जितने बी० ए०, एम० ए०, देखने में आते हैं उनका शरीर प्रायः ऐसा ही होता है कि आंधी आवै तो उड़ जाय। इसी कारण उनके बड़े २ ख़यालात या तो देश पर कुछ प्रभाव ही नहीं डालने पाते वा उलटा असर दिखाते हैं। क्योंकि तन और मन का इतना दृढ़ सम्बन्ध है कि एक बेकाम हो तो दूसरा भी पूरा काम नहीं दे सकता, और यहाँ देह के निरोग रखने वाले नियमों पर आरंभ से आज तक कभी ध्यान ही नहीं पहुँचा। फिर काया के निकम्मेपन में क्या सन्देह है, और ऐसी दशा में दिल और दिमाग़ निर्दोष न हों तो आश्चर्य क्या है! ऊपर से आपको अपने देश के जल-वायु के अनुकूल आहार-विहार आदि

नापसंद ठहरे। इससे और भी तन्दुरुस्ती में नेचर का शाप लगा रहता है। इस पर भी जो कोई रोग उभड़ आया तो चौगुने दाम लगाके, अठगुना समय गंवाके विदेशी ही औषधि का व्यवहार करेंगे, जिसका फल प्रत्यक्ष रूप से चाहे अच्छा भी दिखाई दे, पर वास्तव में धन और धर्म ही नहीं, वरंच देशीय रहन-सहन के विरुद्ध होने से स्वास्थ्य को भी ठीक नहीं रखता, जन्म-रोगीपने की कोई न कोई डिग्री अवश्य प्राप्त करा देता है!

यदि सौ जैंटिलमैन इकट्ठे हों तो कदाचित् ऐसे दस भी न निकलेंगे जो सचमुच किसी राजरोग की कुछ न कुछ शिकायत न रखते हों। इस दशा में हम कह सकते हैं कि आप-रूप का शरीर तो स्वतंत्र नहीं है, डाक्टर साहब के हाथ का खिलौना है। यदि भूख से अधिक डबल रोटी का चौथाई भाग भी खा लें वा ब्रांडी-देवी का चरणोदक आधा आउंस भी पी लें तो मरना जीना ईश्वर के आधीन है, पर कुछ दिन वा घंटों के लिए जमपुरी के फाटक तक अवश्य हो आवेंगे, और वहां कुछ भेंट चढ़ाए और 'हा हा, हू हू, का गीत गाए बिना न लौटेंगे। फिर कौन कह सकता है कि मिस्टर विदेशदास अपने शरीर से स्वतंत्र हैं?

और सुनिए, अब वह दिन तो रहे ही नहीं कि देश का धन देश ही में रहता हो, और प्रत्येक व्यवसायी को निश्चय हो कि जिस वर्ष धंधा चल गया उसी वर्ष, वा जिस दिन स्वामी प्रसन्न हो गया उसी दिन, सब दुःख-दरिद्र टल जांयगे। अब तो वह समय लगा है कि तीन खाओ तेरह की भूख सभी को बनी रहती है। रोजगार-व्यवहार के द्वारा साधारण रीति से निर्वाह होता रहे, यही बहुत है। विशेष कार्यों में व्यय करने के अवसर पर आज कल सैकड़ा पीछे दश जने भी ऐसे नहीं

देख पड़ते जो चिंता से व्यस्त न हो जाते हों। इस पर भी हमारे हिन्दुस्तानी साहब के पिता ने सपूतजी के पढ़ाने में भली चंगी रोकड़ उठा दी है।

इधर आपने जब से स्कूल में पांव रक्खा है तभी से विलायती वस्तुओं के व्यवहार की लत डालके ख़र्च बढ़ा रक्खा है। यों लेकचर देने में चाहे जैसी सुन लीजिए, पर बर्ताव देखिए तो पूरा सात समुद्र के पार ही का पाइएगा! इस पर भी ऐसे लोगों की संख्या इस देश में अब बहुत नहीं है, जो धाए धूपे बिना अपना तथा कुटुम्ब का पालन कर सकते हों। इससे बाबू साहब को भी पेट के लिए कुछ करना पड़ता है, सो और कुछ न कर सकते हैं, न करने में अपनी इज्जत समझते हैं। अतः हेर फेर कर नौकरी ही की शरण सूझती है। वहां भी काले रंग के कारण इनकी विद्या-बुद्धि का उचित आदर नहीं। ऊपर से भूख के बिना भोजन करने में स्वास्थ्य-नाश हो, खाने के पीछे झपट के चलने से रोगों की उत्पत्ति हो, तो हो, पर डिउटी पर ठीक समय में न पहुँचे तो रहें कहां?

बाजे २ महकमों में अवसर पड़ने पर न दिन छुट्टी न रात छुट्टी, पर छुट्टी का यत्न करें तो नौकरी ही से छुट्टी हो जाने का डर है। इस पर भी जो कहीं मालिक कड़े मिजाज का हुवा तो और भी कोढ़ में खाज है, पर उसकी झिड़की आदि न खाएँ तो रोटी ही कहां से खाएँ? यह छूतें न भी हों तो भी नौकरी की जड़ कितनी? ऐसी २ बातें बहुधा देखकर कौन न कहेगा कि काले रंग के गोरे मिजाजवाले साहब अपने निर्वाहोपयोगी कर्तव्य में भी स्वतंत्र नहीं हैं।

अब घर की दशा देखिए तो यदि कोऊ और बड़ा बूढ़ा हुवा, और इनका दबैल न हुवा तो तो जीभ से चिट्ठी का लिफ़ाफ़ा चाटने तक की स्वतंत्रता नहीं। बाहर भले ही जाति, कुजाति,

अजाति के साथ भच्छ, कुभच्छ, अभच्छ भच्छन कर आवें, पर देहली पर पांव धरते ही हिन्दू आचार का नाट्य न करें तो किसी काम के न रक्खे जायें। बहुत नहीं तो वाक्य-बाणों ही से छेद के छलनी कर दिए जायं। हयादार को इतना भी थोड़ा नहीं है। हां यदि 'एक लज्जाम्परित्यज त्रैलोक्य विजयी भवेत्' का सिद्धान्त रखते हों, और खाने भर को कमा भी लेते हों वा घर के करता धरता आपही हों तो इतना कर सकते हैं कि बहुआइन कोई सुशिक्षा दें तो उनको डांट लें, पर यह मजाल नहीं है कि उन्हें अपनी राह पर ला सकें, क्योंकि परमेश्वर की दया से अभी भारत की कुलांगनाओं पर कलियुग का पूरा प्रभाव नहीं हुवा। इससे उनमें सनातनधर्म, सत्कर्म, कुलाचार, सुव्यवहार का निरा अभाव भी नहीं है।

आप-सरूप भले ही तीर्थ, व्रत, देव, पितर आदि को कुछ न समझिए पर वे नंगे पांव माघ मास में कोसों की थकाहट उठाकर गंगा-यमुनादि का स्नान अवश्य करेंगी, हरतालिका के दिन चाहे बरसों की रोगिणी क्यों न हों, पर अन्न की कणिका वा जल की बूंद कभी मुंह में न धरेंगी, रामनौमी, जन्माष्टमी, पितृविसर्जनी आदि आने पर, चाहे जैसे हो, थोड़ा बहुत धर्मोत्सव अवश्य करेंगी। सच पूछो तो आर्य्यत्व की स्थिरता में वही अनेकांश श्रद्धा दिखाती हैं, नहीं आपने तो छत्तीसाक्षरी मंत्र पढ़ कर चुरुटाग्नि में सभी कुछ स्वाहा कर रक्खा है।

यद्यपि गृहेश्वरी के यजन-भजन का उद्देश्य प्रायः आप ही के मंगलार्थ होता है, पर आप तो मन और वचन से इस देश ही के न ठहरे। फिर यहां वालों के आंतरिक भाव कैसे समझें? बन्दर की ओर बरफी लेकर हाथ उठाओ तौ भी वह ढेला ही समझ कर खी, खी, करता हुआ भागेगा!

बिचारी सीधी साधी अबला-बाला ने न कभी विधर्मी शिक्षा पाई है, न मुंह खोलके कभी मरते २ भी अपने पराए लोगों में नाना भांति की जटलें कहने सुनने का साहस रखती है। फिर बाबू साहब को कैसे लेक्चरबाजी करके समझा दें कि तोता मैना तक मनुष्य की बोली सीखके मनुष्य नहीं हो जाते, फिर आपही राजभाषा सीख कर कैसे राजजातीय हो जायंगे ? देह का रंग तो बदल ही नहीं सकते, और सब बातें क्यों कर बदल लीजिएगा ? हां, दूसरे की चाल चलकर कृतकार्य तो कोई हुआ नही, अपनी हंसी कराना होता है वही करा लीजिए।

अब यहां पर विचारने का स्थल है कि जहां दो मनुष्य न्यारे २ स्वभाव के हों, और एक की बातें दूसरे को घृणित जान पड़ती हों वहां चित्त की प्रसन्नता किस प्रकार हो सकती है। स्त्री चाहे धर्म के अनुरोध से इनकी कुचाल का सहन भी करले, पर लोक-लज्जा के भय से गले में हाथ डाल के सैर तो कभी न करैगी, और ऐसा न हुआ तो इनका जन्म सफल होना असंभव है ! इससे मनही मन कुढ़ने वा बात २ पर खौ-खियाने के सिवा कुछ बन नही पड़ता, फिर कैसे कहिए कि आप अपने घर में स्वतंत्र हैं !

रही घर के बाहर की बात, वहां अपने ही टाइपवालों में चाहे जैसे गिने जाते हों, पर देश का अधिकांश न इनकी प्यारी भाषा को समझता है, न भेष पसंद करता है, न इनके से आंतरिक और बाह्यिक भावों से रुचि रखता है ! इससे बहुत लोग तो इनकी सूरत ही से क्रिष्टान जानकर मुंह बिचकाते हैं, इससे इनका बक २ झक २ करना देशवासियों पर यदि प्रभाव करे भी तो कितना कर सकता है। हां, जो लोग इनके सम्बन्धी हैं, और भली भांति ऊपरी व्यवहारों से परि-

चय रखते हैं वे कोट पतलून आदि देखके न चौंकेंगे, किन्तु यदि इनके भोजन की खबर पा जायं तो क्षणभर में दूध की सी मक्खी निकाल बाहर करें। छुवा पानी पीना तो दूर रहा, इन्हें देखके मत्था पटकौवल (दुवा सलाम) तक के रवादार न हों। एक बार हमने एक मित्र से पूछा कि बहुत से अन्य धर्मी और अन्य-जाती हमारे आपके ऐसे मित्र भी हैं, जिनके समागम से जी हुलस उठता है, पर यदि कोई हमारा आपका भैयाचार, नातेदार वा परिचयी विधर्म्मी हो जाता है— विधर्मी कैसा, किसी नई समाज में नाम तक लिखा लेता है— तो उसे देखके घिन आती है। बोलने को जी नहीं चाहता। इसका क्या कारण है? इसके उत्तर में उन्होंने कहा था कि— वेश्याओं के यहां हम तुम जाते हैं कि कुछ काल जी बहला-वेंगे, किन्तु यदि कोई अपनी सम्बन्धिनी स्त्री का, बाजार में जा बैठना कैसा, गुप्त रीति से भी वारविलासिनियों का सा तनिक भी आचरण रखती हुई सुन पड़े तो उसके पास बैठने वा बातें करने से जी कभी न बहलेगा, वरंच उसका मुँह देख-के वा नाम सुनके लज्जा, क्रोध, घृणा आदि के मारे मन में आवेगा कि अपना और उसका जी एक कर डालें।

यों ही पर-पथावलम्बियों का भी हाल समझ लो। यह जीवधारियों का जाति-स्वभाव है कि इतरों में अपनायत का लेश पाकर जैसे अधिक आदर करते हैं वैसे ही अपनों में इतरता की गन्ध भी आती है तो जी बिगाड़ लेते हैं, और जहां एक मनुष्य को बहुत लोगों के रुष्ट हो जाने का भय लगा हो वहां स्वतंत्रता कहां? अतः हमारे लेख के लक्ष्य महाशय कुटुम्ब की अपेक्षा देश-जाति वालों के मध्य और भी परतंत्र हैं।

यदि यह समझा जाय कि घर-दुवार, देश-जाति को तिलां-जलि देकर, जिनके साथ तन्मय होने के अभिलाषी हैं उनमें

जा मिलें तो स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं। यह आशा निरी दुराशा है। उच्च प्रकृति के अंगरेज ऐसों को हम विचार से तुच्छ समझते हैं कि जो अपनों ही का नहीं हुवा वह हमारा क्या होगा ? बुद्धिमानों की आज्ञा है कि जिसके साथ मित्रता करनी हो उसका पहिले यह पता लगा लो कि वह अपने पहिले मित्रों के साथ कैसा बर्ताव रखता था। रहे अनुदार स्वभाव वाले गौरांग, वह विद्या, बुद्धि, सौजन्य आदि पर पीछे दृष्टि करते होंगे, पहिले काला रंग देखकर और नेटिव नाम ही सुनकर घृणापात्र समझ लेते हैं। हां, अपना रुपया और समय नष्ट करके मानापमान का विचार छोड़ के साधारणों की स्तुति-प्रार्थनादि करते रहें तो जबानी खातिर वा मन के धन की कमी नहीं है, " फिर उसे पाके कोई सच्चा स्वतंत्र क्या होगा ?

इसके सिवा किसी से ऋण ले तो चुकाने में स्वतंत्रता नहीं, कोई राज-नियम के विरुद्ध काम कर बैठे तो दंड-प्राप्ति में स्वतंत्र नहीं, नेचर का विरोध करें तो दुःख सहने में स्वतंत्र नहीं, सामर्थ्य का तनिक भी उल्लंघन करने पर किसी काम में स्वतंत्र नहीं, कोई प्रबल मनुष्य, पशु, वा रोग आ घेरे तो जान बचाने में स्वतंत्र नहीं, मरने जीने में स्वतंत्र नहीं, कहां तक कहिए, अपने सिर के एक बाल को इच्छानुसार उजला, काला करने में स्वतंत्र नहीं, जिधर देखो परतंत्रता ही दृष्टि पड़ती है। पर आप अपने को स्वतंत्र ही नहीं, बरंच स्वतंत्रता का तत्वज्ञ और प्रचारकर्ता माने बैठे हैं ! क्या कोई बतला सकता है कि यह माया-गुलाम साहब किस बात में स्वतंत्र हैं ?

हां, हमसे सुनो, आप वेद-शास्त्र-पुराणादि पर राय देने में स्वतंत्र हैं, संस्कृत का काला अक्षर नहीं जानते, हिन्दी के भी साहित्य को खाक धूल नहीं समझते, पर इसका पूरा ज्ञान रखते हैं कि वेद पुराने जंगलियों के गीत हैं, वा पुराण स्वार्थियों की

गढ़ी हुई झूठी कहानियां हैं, धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों का पक्षपात भरा हुआ है, ज्योतिष तथा मन्त्र-शास्त्रादि ठग-विद्या हैं। ऐसी २ बे सिर-पैर की सत्यानाशी रागिनी अलापने में स्वतंत्र हैं। यदि ऐसी बातें इन्हीं के पेट में बनी रहें तो भी अधिक भय नहीं है, समझने वाले समझ लें कि थोड़े से आत्मिक रोगी भी देश में पड़े हैं, उनके लुढ़कते ही 'खसकम जहान पाक' हो जायगा। पर यह स्वतंत्रता के भुक्खड़ व्याख्यानों और लेखों के द्वारा भारत-संतानमात्र को अपना पिछलगा बनाने में सयत्न रहते हैं, यही बड़ी भारी खाध है।

यद्यपि इनके मनोरथों की सफलता पूरी क्या अधूरी भी नहीं हो सकती, पर जो इन्हीं के से कच्ची खोपड़ी और विलायती दिमाग़वाले हैं वह बकवास सुनते ही अपनी बन-गैली चाल में दृढ़ हो जाते हैं, और 'योंही कलासी बैठी थी ऊपर से भैया आगया' का उदाहरण बन बैठते हैं, तथा इस रीति से ऐसों की संख्या कुछ न कुछ बढ़ रहती, और है सम्भव है कि योंही ढचरा चला जाय तो और भी बढ़कर भारतीयत्व के पक्ष में बुरा फल दिखावै।

वहीं विदेश के बुद्धिमान तनिक भी हमारे सद्विद्या-भंडार से परिचित होते हैं तो प्राचीनकाल के महर्षियों की बुद्धि पर बलि २ जाते हैं, वरंच बहुतेरे उनकी आज्ञा पर भी चलने लगते हैं, और इसके पुरस्कार में परमात्मा उन्हें सुख-सुयश का भागी प्रत्यक्ष में बना देता है, तथा परोक्ष के लिए अनन्त मङ्गल का निश्चय उनकी आत्मा को आप हो जाता है। यह देखकर भी जिस हिन्दू की आखें न खुलें, और इतना न सूझे कि जिन दिव्य रत्नों को दूर २ के परीक्षक भी गौरव से देखते हैं, उन्हें कांच बतलाना अपनी ही मनोदृष्टि का दोष दिखलाना वा अपने अग्रगन्ता की अतिमानुषी बुद्धि का वैभव जतलाना

निकम्मे, अविद्वान्, अकुलीन क्यों न हों, पर यदि हम लोक-लज्जा, परलोक-भय, सब को तिलांजली देके आप ही को अपना पिता, राजा, गुरू, पति, अन्नदाता कहते रहेंगे तो इसमें कुछ मीनमेप नहीं है कि आप हमें अपनावेंगे और हमारे दुःख दरिद्र मिटावेंगे।

अजी साहब, आप तो आप ही हैं, हम दीनानाथ, दीनबन्धु, पतित-पावन कह कह के ईश्वर तक को फुसला लेने का दावा रखते हैं। दूसरे किस खेत की मूली हैं, खुशामद वह चीज है कि पत्थर को मोम बनाती है, बैल को दुह के दूध निकालती है। विशेषतः दुनियादार स्वार्थपरायण उदरंभर लोगों के लिए तो इससे बढ़के कोई रसायन ही नहीं है। जिसे यह चतुराक्षरी मंत्र न आया उसकी चतुरता पर छार है, विद्या पर धिक्कार है और गुणों पर फटकार है। यदि कैसा ही सज्जन, सुशील, सहृदय, निर्दोष, न्यायशील, नम्रस्वभाव, उदार सद्-गुणागार, साक्षात् सतयुग का औतार क्यों न हो, पर खुशामद न जानता हो तो इस जमाने में तो उसकी मट्टी खराब है। मरने के पीछे चाहे भले ही ध्रुव जी के मुकुट का मणि बनाया जाय और जो खुशामद से रीझता न हो उसे भी हम मनुष्य तो नहीं कह सकते' पत्थर का टुकड़ा, सूखे काठ का कुँदा या परमयोगी महावैरागी कहेंगे। एक कवि का वाक्य है, कि 'वार पचै मारुी पचै पाथर हू पचि जाय, जाहि खुशामद पचि गई ताते कछु न बसाय'।

सच है खुशामदी लोगों की बातें और घातें ही ऐसी होती हैं कि बड़े बड़ों को लुभा लेती हैं। सब जानते हैं कि यह अपने मतलब की कह रहा है, पर लच्छेदार बातों के मायाजाल में फँस बहुधा सभी जाते हैं। क्यों नहीं ? एक लेखे पूछो तो खुशामदी भी एक प्रकार के ऋषि-मुनि होते हैं। अभी हमसे

कोई ज़रा सा नज़रा करे तो हम उरद के आटे की भांति ऐंठ जांय। (हमारे एक उजड्ड साथी का कथन ही है कि 'वरं हलाहल पानं सद्यः प्राण हरं विषं। नहिं दुष्ट धनाढ्यस्य भ्रूभंग कुटिला ननः।') पर हमारे खुशामदाचार्य महानुभाव सब तरह की झिड़की, निन्दा, कुबातें सहने पर भी हाथ ही जोड़ते रहते हैं। भला ऐसे मन के जीतनेवालों के मनोरथ क्यों न फलें। यद्यपि एक न एक रीति से सभी सब की खुशामद करते हैं, यहां तक कि जिन्होंने सब तज हर भज का सहारा करके बनवास अंगीकार किया है, कंद मूल से पेट भरते हैं, भोज पत्रादि से काया ढकते हैं, उन्हें भी गृहस्थाश्रम की प्रशंसा करनी पड़ती है। फिर साधारण लोग किस मुँह से कह सकते हैं कि हम खुशामद नहीं करते वरंच यह कहना कि हमें खुशामद करनी नहीं आती यह आलादरजे की खुशामद है। जब आप अपने चेले को, नौकर को, पुत्र को, स्त्री को, खुशामदी को नाराज़ देखते हैं और उसे राज़ी न रखने में धन, मान, सुख, प्रतिष्ठादि की हानि देखते हैं तब कहते हैं क्यों? अभी सिर से भूत उतरा है कि नहीं? यह भी उलटे शब्दों में खुशामद है। सारांश यह कि खुशामद से खाली कोई नहीं है। पर खुशामद करने की तमीज हर एक को नहीं आती। इतने बड़े हिन्दुस्तान भर में केवल चार-छः आदमी खुशामद के तत्ववेत्ता हैं। दूसरों की क्या मजाल है कि खुशामदी की पदवी ग्रहण कर सकें। हम अभी पाठकों को सलाह देते हैं कि यदि अपनी उन्नति चाहते हों तो नित्य थोड़ा-थोड़ा खुशामद का अभ्यास करते रहें। देशोन्नति दशोन्नति के पागलपन में न पड़ें नहीं तो हमारे ही तरह कठमुल्ला बने रहेंगे।

होली है

तुम्हारा सिर है! यहां दरिद्र की आग के मारे होला (अथवा होरा भुना हुवा हरा चना) हो रहे हैं इन्हें होली है, हें!

अरे कैसे मनहूस हो? बरस २ का तिवहार है, उसमें भी वही रोनी सूरत! एक बार तो प्रसन्न हो कर बोलो, होरी है!

अरे भाई हम पुराने समय के बंगाली भी तो नहीं हैं कि तुम ऐसे मित्रों की जबरदस्ती से होरी (हरि) बोलके शांत हो जाते। हम तो बीसवीं शताब्दी के अभागे हिन्दुस्तानी हैं, जिन्हें कृषि, वाणिज्य, शिल्प सेवादि किसी में भी कुछ तंत नहीं है। खेतों की उपज अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जंगलों का कट जाना, रेलों और नहरों की वृद्धि इत्यादि ने मट्टी करदी है। जो कुछ उपजता भी है वह कटके खलियान में नहीं आने पाता, ऊपर ही ऊपर लद जाता है! रुजगार-व्यौहार में कहीं कुछ देखी नहीं पड़ता। जिन बाजारो में, अभी दस वर्ष भी नहीं हुए, कंचन बरसता था वहां अब दूकानें भांय २ होती हैं! देशी कारीगरी को देश ही वाले नहीं पूछते। विशेषतः जो छाती ठोंक २ ताली बजवा २ कागजों के तख़ते रंग २ कर देशहित के गीत गाते फिरते हैं वह और भी देशी वस्तु का व्यवहार करना अपनी शान से बईद समझते हैं। नौकरी

बी० ए०, एम० ए०, पास करने वालों को भी उचित रूप में मुश्किल से मिलती है। ऐसी दशा में हमें होली सूझती है कि दिवाली!

यह ठीक है। पर यह भी तो सोचो कि हम तुम वंशज किनके हैं? उन्हीं के न, जो किसी समय बसंत-पंचमी ही से:—

"आई माघ की पांचैं बूढ़ी डोकरियां नाचैं"

का उदाहरण बन जाते थे, पर जब इतनी सामर्थ्य न रही तब शिवरात्रि से होलिकोत्सव का आरंभ करने लगे। जब इसका भी निर्वाह कठिन हुआ तब फागुन सुदी अष्टमी से—

"होरी मध्ये आठ दिन, ब्याह मांह दिन चार।
शठ पण्डित, वेश्या बधू सबै भए इकसार"

का नमूना दिखलाने लगे। पर उन्हीं आनंदमय पुरुषों के वंश में होकर तुम ऐसे मुहर्रमी बने जाते हो कि आज तिवहार के दिन भी आनन्द-वदन से होली का शब्द तक उच्चारण नहीं करते। सच कहो, कहीं होली बाइबिल की हवा लगने से हिन्दूपन को सलीब पर तो नहीं चढ़ा दिया?

तुम्हें आज क्या सूझी है, जो अपने पराए सभी पर मुंह चला रहे हो? होली बाइबिल अन्य धर्म का ग्रंथ है, उसके माननेवाले बिचारे पहिले ही से तुम्हारे साथ का भीतरी-बाहिरी सम्बन्ध छोड़ देते हैं। पहिली उमंग में कुछ दिन तुम्हारे मत पर कुछ चोट चला भी दिया करते थे, पर अब बरसों से वह चर्चा भी न होने के बराबर हो गई है? ऐसी ही लड़ास लगी हो तो उनसे जा भिड़ो जो अभी तुम्हारे ही कहलाते हैं, तुम्हारे ही साथ रोटी-बेटी का व्यौहार रखते हैं, तुम्हारे ही दो चार मान्य ग्रन्थों के मानने वाले बनते हैं, पर तुम्हारे ही देवता पितर

इत्यादि की निन्दा कर करके तुम्हें चिढ़ाने ही में अपना धर्म और अपने देश की उन्नति समझते हैं।

अरे राम राम! पर्व के दिन कौन चरचा चलाते हो! हम तो जानते थे तुम्हीं मनहूस हो, पर तुम्हारे पास बैठे सो भी नसूढ़िया हो जाय। अरे बाबा दुनियाभर का बोझ परमेश्वर ने तुम्हीं को नहीं लदा दिया। यह कारखाने हैं, भले बुरे लोग और दुःख-सुख की दशा होती ही हुवाती रहती है। पर मनुष्य को चाहिए कि जब जैसे पुरुष और समय का सामना आ पड़े तब तैसा बन जाय। मन को किसी झगड़े में फंसने न दे।

आज तुम सचमुच कहीं से भांग खाके आए हो। इसी से ऐसी बेसिर-पैर की हांक रहे हो। अभी कल तक प्रेम-सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध करते थे कि मन का किसी ओर लगा रहना ही कल्याण का कारण है, और इस समय कह रहे हो कि 'मन को किसी झगड़े में फंसने न दे'। वाह! भला तुम्हारी किस बात को मानें?

हमारी बात मानने का मन करो तो कुछ हो ही न जाओ! यही तो तुमसे नहीं होता। तुम तो जानते हो कि हम चोरी-चहारी सिखावेंगे।

नहीं यह तो नहीं जानते। और जानते भी हों तो बुरा न मानते। क्योंकि जिस काल मे देश का अधिकांश निर्धन, निर्बल, निरुपाय हो रहा है, उसमें यदि लोग "बुभुक्षितः किं न करोति पापं" का उदाहरण बन जायं तो कोई आश्चर्य नहीं है। पर हां यह तो कहेंगे कि तुम्हारी बातें कभी २ समझ में नहीं आतीं। इससे मानने को जी नहीं चाहता।

यह ठीक है, पर याद रक्खो कि हमारी बातें मानने कामानस करोगे तो समझ में भी आने लगेंगी, और प्रत्यक्ष फल भी देंगी।

अच्छा साहब मानते हैं, पर यह तो बतलाइए जब हम मानने योग्य ही नहीं हैं तो कैसे मान सकते हैं ?

छिः क्या समझ है ! अरे बाबा ! हमारी बातें मानने में योग्य होना और सकना आवश्यक नहीं है। जो बातें हमारे मुंह से निकलती हैं वह वास्तव में हमारी नहीं हैं, और उनके मानने की योग्यता और शक्ति हमको तुमको क्या किसी को भी तीन लोक और तीन काल में नहीं है। पर इसमें भी सन्देह न करना कि जो कोई चुपचाप आंखें मीच के मान लेता है वह परमानन्द-भागी हो जाता है।

हिहि ! ऐसी बातें मानने तो कौन आता है, पर सुनकर परमानन्द तो नहीं, हाँ, मसखरेपन का कुछ मजा जरूर पा जाता है !

भला हमारी बातों में तुम्हारे मुँह से हिहि तो निकली ! इस तोबड़ा से लटके हुए मुँह के टांकों के समान दो तीन दांत तो निकले। और नहीं तो, मसखरेपन ही का सही, मज़ा तो आया। देखो, आंखें भट्टी के तेल की रोशनी और कुल्हिया के ऐनक की चमक से चौंधिया न गई हों तो देखो ! छत्तिसौ जात, बरंच अजात के जूठे गिलास की मदिरा तथा भच्छ अभच्छ की गंध से अक्लि भाग न गई हो तो समझो। हमारी बातें सुनने में इतना फल पाया है तो मानने में न जाने क्या प्राप्त हो जायगा। इसी से कहते हैं, भैया मान जाव, राजा मान जाव, मुन्ना मान जावो ! आज मन मारके बैठे रहने का दिन नहीं है। पुरखों के प्राचीन सुख-सम्पति को स्मरण करने का दिन है। इससे हँसो, बोलो, गाओ बजाओ, त्योहार मनाओ, और सब से कहते फिरो—होली है।

हो तो ली ही है। नहीं तो अब रही क्या गया है।

खैर, जो कुछ रह गया है उसी के रखने का यत्न करो, पर अपने ढङ्ग से, नकि विदेशी ढङ्ग से। स्मरण रक्खो कि जब तक

उत्साह के साथ अपनी ही रीति-नीति का अनुसरण न करोगे तबतक कुछ न होगा। अपनी बातों को बुरी दृष्टि से देखना पागलपन है। रोना निरुत्साहों का काम है। अपनी भलाई अपने हाथ से हो सकती है। मांगने पर कोई नित्य डबल रोटी का टुकड़ा भी न देगा। इससे अपनपना मत छोड़ो। कहना मान जाव। आज होली है।

हां, हमारा हृदय तो दुर्दैव के बाणों से पूर्णतया होली (होल अंगरेजी में छेद को कहते हैं, उससे युक्त।) है! हमें तुम्हारी सी जिंदादिली (सहृदयता) कहां से सूझे?

सो सहृदयता के बिना कुछ आप कर भी नहीं सकते, यदि कुछ रोप पीटे दैवयोग से हो भी जायगा तो "नकटा जिया बुरे हवाल" का लेखा होगा। इससे हृदय में होल (छेद) हैं तो उनपर साहस की पट्टी चढ़ाओ। मृतक की भांति पड़े २ कांखने से कुछ न होगा। आज उछलने ही कूदने का दिन है। सामर्थ्य न हो तो चलो किसी हौली (मद्यालय) से थोड़ी सी पिला लावें, जिसमें कुछ देर के लिए होली के काम के हो जाओ, यह नेस्ती काम की नहीं।

वाह तो क्या मदिरा पिलाया चाहते हो?

यह कलजुग है। बड़े २ बाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मान, प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से! पर थोड़ी देर उसकी तरङ्ग में "हाथी मच्छर, सूरज जुगनू" दिखाई देता है। इससे, और मनोविनोद के अभाव में, उसके सेवकों के लिए कभी २ उसका सेवन कर लेना इतना बुरा नहीं है जितना मृतचित्त बन बैठना। सुनिए! संगीत, साहित्य, सुरा और सौंदर्य के साथ यदि नियम-विरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता

है, और सहृदयता की प्राप्ति के लिए इन दो गुणों की आवश्यकता है, जिनके बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है।

बलिहारी है, महाराज इस क्षणिक बुद्धि की। अभी तो कहते थे कि मन को किसी झगड़े में फँसने न देना चाहिए, और अभी कहने लगे कि मन की एकाग्रता के बिना सहृदयता तथा सहृदयता के बिना जीवन की सार्थता दुःसाध्य है! धन्य हैं, यह सरगापत्ताली बातें! भला हम आपको अनुरागी समझें या विरागी?

अरे हम तो जो हैं वही हैं, तुम्हें जो समझना हो समझ लो। हमारी कुछ हानि नहीं है। पर यह सुन रक्खो, सीख रक्खो, समझ रक्खो कि अनुराग और विराग वास्तव में एक ही हैं। जब तक एक ओर अचल अनुराग न होगा तब तक जगत के खटराग में विराग नहीं हो सकता, और जब तक सब ओर से आंतरिक विराग न हो जाय तब तक अनुराग का निर्वाह सहज नहीं है। इसी से कहते हैं कि हमारी बातें चुपचाप मान ही लिया करो, बहुत ही अक्लि को दौड़ा २ के थकाया न करो। इसी में आनन्द भी आता है, और हृदय का कपाट भी खुल जाता है। साधारण बुद्धिवाले लोग भगवान् भूतनाथ श्मसान-विहारी, मुँडमालाधारी को वैराग्य का अधिष्ठाता समझते हैं, पर वह आठों पहर अपनी प्यारी पर्वत-राजनंदिनी को वामांग ही में धारण किए रहते हैं, और प्रेमशास्त्र के आचार्य हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्णचन्द्र को लोग शृङ्गार रस का देवता समझते हैं, पर उनकी निर्लिप्तता गीता में देखनी चाहिए। जिसे सुनाके उन्होंने अर्जुन का मोह-जाल छुड़ाके वर्तमान कर्तव्य के लिए ऐसा दृढ़ कर दिया था कि उन्होंने सबकी दया-मया, मोह-ममता को तिलांजलि देके मार-काट आरंभ कर दी थी। इन बातों में तत्व-ग्राहिणी समझ

भली भांति समझ सकती है कि भगवान् प्रेमदेव की अनंत महिमा है। वहाँ अनुराग-विराग, सुख-दुःख, मुक्ति-साधन सब एक ही हैं। इसी से सच्चे समझदार संसार में रहकर सब कुछ देखते सुनते, करते धरते हुए भी संसारी नहीं होते। केवल अपनी मर्यादा में बने रहते हैं, और अपनी मर्यादा वही है जिसे सनातन से समस्त पूर्व-पुरुष रक्षित रखते आए हैं, और उनके सुपुत्र सदा मानते रहेंगे। काल, कर्म, ईश्वर अनुकूल हो वा प्रतिकूल, सारा संसार स्तुति करे या निन्दा, वाह्य दृष्टि से लाभ देख पड़े वा हानि, पर वीर पुरुष वही है जो कभी कहीं किसी दशा में अपनेपन से स्वप्न में भी विमुख न हो। इस मूलमंत्र को भूल के भी न भूले कि जो हमारा है वही हमारा है। उसी से हमारी शोभा है, और उसी में हमारा वास्तविक कल्याण है।

एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध करके वर्ष-भर की कही-सुनी क्षमा करके हाथ जोड़ के, पांव पड़ के, मित्रों को मना के, बाहें पसार के उनसे मिलने और यथा-सामर्थ्य जी खोलके परस्पर की प्रसन्नता सम्पादन करने का दिन है। जो लोग प्रेम का तत्व तनिक भी नहीं समझते, केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश जाति के, उनसे घृणा न करके ऊपरी आमोद-प्रमोद में मिला के समयान्तर में मित्रता का अधिकारी बनाने की चेष्टा करने का त्यौहार है। जो निष्प्रयोजन हमारी बात २ पर भुरकते ही हों उन्हें उनके भाग्य के आधीन छोड़के अपनी मौज में मस्त रहने का समय है। इसी से कहते हैं, नई बहू की नाईं घर में, न घुसे रहो, पर्व के दिन मन मार के न बैठो, घर बाहर, हेती व्यौहारी से मानसिक आनन्द के साथ कहते फिरो—हो ओ ओ ली ई ई ई है।

सोने का डण्डा और पौंड़ा

देखने में सुवर्ण दंड ही सुन्दर है। ताप देखो सुलाख देखो तो स्वर्ण दंड ही अपनी खराई दिखलावेगा। उसका बनना और ताकना बड़ी कारीगरी, बड़े खर्च, बड़ी शोभा और बड़ी चिन्ता का काम है। पर हम पूछते हैं कि जो पुरुष भूखा है, जो भूख के मारे चाहता है कुछ ही मिल जाय, तो आत्मा शान्ति हो उसके लिए वह दंडा किस काम है? कदाचित बालक भी कह देगा कि कौड़ी काम का नहीं। यदि उसको बेचने जाय तो खरीदार मिलना मुशकिल है। साधारण लोग कहेंगे कहां का एक दरिद्र एक दम आगया जो घर की चीजें बेचे डालता है। कोई कहेगा कहाँ से उड़ा लाए? सच तो यह है, जो कोई ऐसा ही शौकीन आँख का अन्धा गांठ का पूरा मिलेगा तो ले लेगा। परन्तु भूखी आत्मा इतनी कल है कि स्वर्ण दंड से परंपरा द्वारा भी अपना जी समझा सके। कदापि नहीं। इधर पौंड़ा को देखिये देखने में सुन्दरता व असुन्दरता का नाम नहीं, परीक्षा का काम नहीं लड़का भी जानता है कि मिठाइयों भर का बाप है। बनाने और बनवाने वाला संसार से परे है। लेके चलने में कोई

शोभा है न अशोभा। ताकने में कोई बड़ा खट खट तो नहीं है। पहरा-चौकी, जागना-जूगना कुछ भी न चाहिये। पर कोई ताकने की आवश्यकता ही क्या है ? जहाँ तक बिचारिए यही पाइएगा कि जितनी स्वर्ण दंड के सम्बन्ध में आपत्तियां हैं उससे कहीं चढ़ी बढ़ी इक्षु दंड के साथ निर्द्वन्दता है। विशेषतः क्षुधा क्रान्त के लिए वह तत्क्षण शांतिदाता ही नहीं वरंच पुष्टिकारक सुस्वादुप्रद भी है।

पाठक महोदय ! जैसे इस दृश्यमान संसार में स्वर्ण दंड और इक्षुदंड दशा देखते हो ऐसे ही हमारी आत्मसृष्टि में ज्ञान और प्रेम है। दुनियां में जाहिरी चमक दमक ज्ञान की चढ़ी है। शास्त्रार्थों की कसौटी पर उसके खूब जौहर खिलते हैं। संसारगामिनी बुद्धि ने उसके बनाने में बड़ी कारीगरी दिखलाई है। पांडित्याभिमान और महात्मान की शान उससे बड़ी शोभा पाती है। इससे हद है कि एक अपावन शरीरधारी, सर्वथा असमर्थ अन्न का कीड़ा रोग शोकादि का लतमर्द मनुष्य उसके कारण अपने को साक्षात ब्रह्म समझने लगता है। इससे अधिक ऊपरी महत्व और क्या चाहिए ? पर जिन धन्य जनों की आत्मा धर्म-स्वादु की क्षुधा से लालायित होरही हैं; जिनके हृदय-नेत्र हरि-दर्शन के प्यासे हैं उनकी क्या इतने से तृप्ति हो जायगी कि शास्त्रों में ईश्वर ने ऐसा लिखा है, जीव का यह कर्त्तव्य है, इस कर्म का यह फल है, इत्यादि से आत्मा शांति होजायगी ? हमतो जानते हैं शांति के बदले यह विचार और उलटी घबराहट पैदा करेगा कि हाय हमें यह कर्तव्य था, पर इन इन कारणों से न कर सके। अब हम कैसे क्या करेंगे ? यदि यह भयानक लहरें जी में उठीं तो जन्म भर कर्म-कांड और उपासना-कांड के झगड़ों से छुट्टी नहीं। और जो न उठीं तो मानो आत्मा निरी निर्जीव है। भूख का बिलकुल न लगना शरीर के लिए अनिष्ट

है। तो अपने कल्याणों की प्रगाढ़ेच्छा न होना आत्मा के लिए क्योंकर श्रेयस्कर कहें।

किसी महात्मा का वचन है कि 'वे लोग धन्य हैं जो धर्म के लिए भूखे और प्यासे हैं, क्योंकि वे तृप्त किए जायंगे,' सो तृप्त होना शुष्क ज्ञानरूपी स्वर्ण दंड से कदापि संभव नहीं, क्योंकि सोना स्वयं खाद्य वस्तु नहीं है। ऐसा ही ज्ञान भी केवल सुखद मार्ग का प्रदर्शक मात्र है, कुछ सुख स्वरूप नहीं है। वरंच बहुधा दुःखदायक हो जाता है। पर, हां, ईश्वर के अमित अनुग्रह से स्वयं रसमय निश्चित अलौकिक और अकृत्रिम प्रेम भी हमारे हृदय-क्षेत्र में रक्खा गया है जिसके किंचित सम्बन्ध से हम तृप्त हो जाते हैं; आंतरिक दाह का नाश हो जाता है। ईश्वर तो ईश्वर ही है। किसी सांसारिक वस्तु का क्षणस्थाई और कृत्तिम प्रेम कैसा आनन्दमय है कि उसके लिये कोटि दुःख भी हो जाते हैं। और प्रेम-पात्र की प्राप्ति तो दूर रही, उसके ध्यान मात्र से हम अपने को भूल के आनन्दमय हो जाते हैं। जैसे यावत मिष्ठान्न का जनक इक्षु दंड है, वैसे ही जितने आनन्द हैं सब का उत्पादक प्रेम है। तत्क्षण शांति और पुष्टिदाता यह इस समय प्रेम ही है जिसकी केवल एक देशी तुच्छातितुच्छ सादृश्य गन्ने से दे सकते हैं, यद्यपि वास्तविक और यथोचित सादृश्य के योग्य तो अमृत भी नहीं है। प्रिय पाठक तुम्हारी आत्मा धर्म की भूखी है कि नहीं ? यदि नहीं है तो सत्संग और सद्ग्रन्थावलोकन द्वारा इस दुष्ट रोग को नाश करें। हाय हाय ! आत्मश्रेय के लिए व्याकुल न हुआ सो चित्त काहे को, पत्थर है। नहीं हमारे रसिक अवश्य हरि रस के प्यासे हैं उनसे हम पूंछते हैं क्यों भाई ! तुम अपने लिये रूक्ष स्वर्ण दंड को उत्तम समझते हो अथवा रसीले पौंढे को।

'ट'

इस अक्षर में न तो 'लकार' का सा लालित्य है, न 'दकार' का सा दुरूहत्व, न 'मकार' का सा ममत्व-बोधक गुण है; पर विचार कर के देखिए तो शुद्ध स्वार्थपरता से भरा हुवा है! सूक्ष्म विचारके देखो तो फारस और अरब की ओर के लोग निरे छल के रूप, कपट की मूरत नहीं होते, अप्रसन्न होके मरना मारना जानते हैं, जबरदस्त होने पर निर्बलों को मनमानी रीति पर सताना जानते हैं, बड़े प्रसन्न हों तो तन, मन, धन से सहाय करना जानते हैं, जहाँ और कोई युक्ति न चले वहां निरी खुशामद करना जानते हैं, पर अपने रूप में किसी तरह का धब्बा न लगने देना और रसाइन के साथ धीरे धीरे हंसा खिलाके अपना मतलब गांठना, जो नीति का जीव है, उसे बिलकुल नहीं जानते।

इतिहास लेके सब बादशाहों का चरित्र देख डालिए। ऐसा कोई न मिलेगा जिसकी भली या बुरी मनोगति बहुत दिन तक छिपी रह सकी हो। यही कारण है कि उनकी वर्णमाला में टवर्ग हई नहीं। किसी फारसी से टट्टी कहलाइए तो मुँह बीस

कोने का बनावेगा, पर कहेगा तत्ती। टट्टी की ओट में शिकार करना जानते ही नहीं, उन विचारों के यहां 'टट्टा' का अक्षर कहां से आवे। इधर हमारे गौरांगदेव को देखिए। शिरपर हैट, तन पर कोट, पावों में प्येंट, और बूट, ईश्वर का नाम आल्माइटी, (सर्वशक्तिमान) गुरू का नाम ट्यूटर, मास्टर (स्वामी को भी कहते हैं) या टीचर, जिससे प्रीति हो उसकी पदवी मिस्ट्रेस, रोजगार का नाम ट्रेड, नफा का नाम बेनीफिट, कवि का नाम पोयट, मूर्ख का नाम स्टुपिड, खाने में टेबिल, कमाने में टेक्स। कहाँ तक इस टिटिल-टेटिल (बकवाद) को बढ़ावें, कोई बड़ी डिक्शनरी (शब्द-कोप) को लेके ऐसे शब्द ढूंढ़िए, जिनमें 'टकार' न हो तो बहुत ही कम पाइएगा! उनके यहाँ 'ट' इतना प्रविष्ट है कि तोता कहाइए तो टोटा कहेंगे। इसी 'टकार' के प्रभाव से नीति में सारे जगत् के मुकुट-मणि हो रहे हैं। उनकी पालिसी समझना तो दरकिनार, किसी साधारण पढ़े-लिखे से पालिसी के माने पूछो तो एक शब्द ठीक-ठीक न समझा सकेगा।

इससे बढ़के नीतिनिपुणता क्या होगी कि रुजगार में, व्यवहार में, कचहरी में, दरबार में, जीत में, हार में, वैर में, प्यार में, लल्ला के सिवा दद्दा जानते ही नहीं! रीझेंगे तो भी ज़ियाफत लेंगे, नज़र लेंगे, तुहफा लेंगे, सौग़ात लेंगे, और इन सैकड़ों हज़ारों के बदले देंगे क्या, 'श्रीईसाई' (सी० एस० आई०) की पदवी, या एक काग़ज़ के टुकड़े पर सार्टिफिकेट, अथवा कोरी थैंक, (धन्यवाद) जिसे उर्दू में लिखो तो ठेंग अर्थात् हाथ का अंगूठा पढ़ा जाय! धन्य री स्वार्थसाधकता! तभी तो सौदागिरी करने आए, राजाधिराज बन गए। क्यों न हो, जिनके यहां बात-बात पर 'टकार' भरी है उनका सर्वदा सर्वभावेन सब किसी का सब कुछ डकार जाना क्या आश्चर्य है! नीति इसी का

नाम है, 'टकार' का यही गुण है कि जब सारी लक्ष्मी विलायत को ले गए तब भारतीय लोगों की कुछ-कुछ आंखें खुली हैं। पर अभी बहुत कुछ करना है। पहिले अच्छी तरह आँखें खोल के देखना चाहिए कि यह अक्षर जैसे अंगरेजों के यहां है वैसे ही हमारे यहां भी है, पर भेद इतना है कि उनकी "टी" की सूरत ठीक एक ऐसे कांटे की सी है कि नीचे से पकड़ के किसी वस्तु में डाल दें तो जाते समय कुछ न जान पड़ेगा, पर निकलते समय उस वस्तु को दोनों हाथों अपनी ओर खींच लावेगा। प्रत्यक्ष देखलो कि यह जिसका स्वत्व हरण किया चाहते हैं उसे पहिले कुछ भी नहीं ज्ञान होता, पीछे से जो है सो इन्हीं का! और हमारे वर्णमाला का "ट" एक ऐसे आंकड़े के समान है जिसे ऊपर से* पकड़ सकते हैं, और हर पदार्थ में प्रविष्ट कर सकते हैं; पर उस वस्तु को यदि सावधानी से अपनी ओर खींच ली तो कुशल है नहीं तो कोरी मिहनत होती है! इसी से हम जिन बातों को अपनी ओर खींचना आरम्भ करते हैं उनमें 'टकार' के नीचेवाली नोक की भांति पहिले तो हमारी गति खूब होती है, पर पीछे से जहाँ दृढ़ता में चूके वहीं ठंठ के ठंठ रह जाते हैं।

दूसरा अन्तर यह है कि अङ्गरेजी के यहाँ "टी" सार्थक है और हमारे यहां एक रूप से निरर्थक। अंगरेजी में "टी" के माने चाह के हैं, जो उनके पीने की चीज है, अर्थात् वे अपना पेट भरना खूब जानते हैं। पर हमारे यहां "ट" का कुछ अर्थ नहीं घर का टट्टा लगा हो तो न हम बाहर जा सकते हैं, अर्थात् अन्य देश में जाते ही धर्म और बिरादरी में बदनाम होते हैं, और

* नीचे से पकड़ना अर्थात् उसके मूल को ढूंढ़ के काम में लाना और ऊपर से पकड़ना अर्थात दैवाधीन समझ कर उठाना।

बाहर की विद्या, गुण आदि हमारे हृदय-मंदिर के भीतर नहीं आ सकते। आवें भी तो हमारे भाई! चोर २ कहके चिल्लाय यह अनर्थ ही तो है।

तीसरा फर्क लीजिए, जितना उनके यहां "ट" का खर्च है उतना हमारे यहाँ है नहीं। तिस पर भी हम अपने यहाँ के "ट" का वर्ताव बहुत अच्छी रीति से नहीं करते। फिर कहां से पूरा पड़े। 'टकार' का अक्षर नीतिमय है, उस नीतिमय अक्षर को बुरी रीति से काम में लाना बुरा ही फल देता है। हम ब्राह्मण हैं तो टीका (तिलक) और चोटी सुधारने में घंटों बिता देते हैं, यह काम स्त्रियों के लिए उपयोगी था, हमें चाहिए, वास्तविक धर्म पर अधिक जोर देते। यदि हम क्षत्री हैं तो टंटा-बखेड़ा में पड़े रहते हैं! यह काम चाहिए था शत्रुओं के साथ करना, न कि आपस में। यदि हम वैश्य हैं तो केवल अपना ही टोटा (घटी) या नफ़ा विचारेंगे, इससे सौदागरी का सच्चा फल नहीं मिलता। यदि हम अमीर हैं तो सैकड़ों रुपया केवल अपना टिमाक बनाने में लगा देंगे, टेसू बने बैठे रहेंगे, इससे तो यह रुपया किसी देश-हितकारी काम में लगाते तो अच्छा था। पढ़े लिखे हैं तो मतवाद में टिलटिलाया करेंगे, कोई काम करेंगे तो अंटसंट रीति से, सरतारे होंगे तो टालमटोला किया करेंगे।

इस ऊटपटांग कहानी को कहां तक कहिए, बुद्धिमान विचार सकते हैं कि जब तक हमारी यह टेव न सुधरेगी, जब तक हमारे देश में ऐसी ही टिचर्रें फैली रहेगी तब तक हमारे दुःख-दरिद्र भी न टलेंगे। दुर्दशा योंही टेंटुआ दबाए रहेगी! हमें अति उचित है कि इसी घटिका से अपनी टूटी फूटी दशा सुधारने में जुट जायं। विराट् भगवान् के सच्चे भक्त बनें, जैसे संसार का सब कुछ उनके पेट में है, वैसे ही

हमें भी चाहिए कि जहाँ से जिस प्रकार जितनी अच्छी बात मिलें सब अपने पेट के पिटारे में भर लें, और देशभर को उनसे पाट दें, भारतवासीमात्र को एक बाप के बेटे की तरह प्यार करें, अपने २ नगर में नेशनल कांग्रेस की सहायक कमेटी क़ायम करें, ऐंटी काँग्रेसवालों की टॉय २ पर ध्यान न दें। बस नागर नट की दया से सारे अभाव झट पट हट जायंगे, और हम सब बातों में टंच हो जायंगे। यह 'टकार' निरस सी होती है, इससे इसके सम्बन्धी आरटिकिल में किसी नटखट सुन्दरी की चटक-मटक भरी चाल और गालों पर लटकती हुई लट, मटकती हुई आंखों के साथ हट ! अरे हट ! की बोलचाल का सा मजा तो ला न सकते थे, केवल टटोल-टटाल के थोड़ी सी एडीटरी की टेंक निभा दी है। आशा है कि इसमें की कोई बात टेंट में खोंस रखिएगा तो टका पैसाभर गुण ही करेगी। बोलो टेढ़ी टांगवाले की जै।

टिप्पणी

शिवमूर्ति

अप्रतर्क्य—तक से परे। महात्मा कबीर—वास्तव में ऐसी एक उक्ति मलिक मुहम्मद जायसी की कही हुई है—

सुनी हस्ती कर नाँव, अँधरन टोवा धारकै।
जेहि टोवा तेहि ठाँव, मुहम्मद सौ तैसा कहा॥

"Seven smiple Men of Banner" नाम की एक अँगरेजी कविता भी इसी विषय की है। तदीय—ईश्वर की सच्ची भक्ति करने वाले। मृत्तिका—मिट्टी। त्रिगुणातीत—सत, रज, तम, तीनों गुणों से परे। मसी—स्याही। उत्पादक—उत्पन्न करने वाला। बातेंगोल हैं—रहस्यमय या गुम हैं। शेखचिल्ली का महल—निराधार वस्तु।

गंगाजी

न्यूनातिन्यून—कम से कम। प्रच्छन्न—अप्रकट रूप से, परोक्ष। गंगा तरङ्ग······शिलातलानि—गंगा की तरङ्गों के जल कणों से धोकर शीतल की हुई तट की सुन्दर और चिकनी शिलाएँ जिन पर विद्याधर बैठते थे। इमंमे गंगे—स्नान के समय पढ़े जाने वाले मंत्र। एतद्विषयक—इस विषय की। मिश्नरी—वे ईसाई धर्म प्रचारक जो हिन्दू धर्म के साथ-साथ गङ्गाजी की भी बुराई किया करते थे। वाज़—उपदेश। कहतूत—कहावत। स्नातक—नहाने वाला। त्रिताप—आत्मिक, दैविक और भौतिक। नजर आता·········सुलेमां का—गंगा के मार्ग का दृश्य बड़ा सुन्दर है—सुलेमान का सा सुन्दर दृश्य है; कहीं परियाँ हैं, कहीं हूर हैं और कहीं स्वयंसेवक।

धोखा

उत्पादन—उत्पन्न करना। इसी प्रकार एक शब्द है "उत्पाटन" इसका अर्थ है जड़ से उखाड़ना—दोनों शब्दों के अंतर पर दृष्टि रखनी चाहिए। वपु—शरीर। मत्स्य—मछली। आरोप—लगना या लगाना जैसे दोषारोपण—दोष लगाना। अस्तित्व—होना—Existence। जिज्ञासु—जानने की इच्छा रखने वाला—जिज्ञासा—जानने की इच्छा। भ्रमोत्पादक—भ्रम उत्पन्न कराने वाला। अकर्मण्य—आलसी। स्वत्व—अधिकार। प्राकट्य—प्रकट होना। व्यतिक्रम—क्रम या सिलसिला बिगड़ना। प्रत्यक्ष—प्रकट। इसका विपरीति अर्थ वाला शब्द "परोक्ष" है। अंततोगत्वा—अंत में। खगोल—आकाश-मंडल। प्राज्ञगण—चतुर, विद्वान। हथखंडे— चालें-घातें।

नोट—इस लेख में कहावतों के उचित प्रयोग पर ध्यान दीजिए।

काल

सचिव—मंत्री। कलत्र—स्त्री, धर्मपत्नी। महत्त्व विशिष्ट—विशेषतायुक्त। जमाने के तेवर पहचानना—समय के अनुसार ही काम करना चाहिए। मनीषी—चतुर; बुद्धिमान। गौरवास्पद—प्रसिद्ध; प्रतिष्ठित। कृतकृत्यता—सफलता, सिद्ध। उपर्युक्त—ऊपर कहा हुआ। भ्रू-सञ्चालन—भौं हिलाना-केवल इशारा करना।

धरतीमाता

तज्जनित—उससे होने वाले। वैमनस्य—ईर्ष्या-द्वेष। महानुभूत—सत्य—अनुभव किया हुआ। विश्वस्त—जिनका हम विश्वास कर सकते हैं—विश्वासपात्र। अनिष्ट—हानि।

आप

आपदा—विपत्ति, कष्ट। अनुकरण—अनुसरण—पीछे चलना—देखा देखी करना—महापुरुषों का अनुकरण करना उन्नति का मूल है। द्योतनार्थ—बताने के लिए। अधोगामी—नीचे की ओर जाने वाले, अवनत। पानीदार—शर्मदार। पानीपानी होना—पिघल जाना, क्रोध शांत होजाना। उपालंभ—उलाहना। प्रामाणिक—प्रमाण से विशेषण सत्य। तद्रूपता—उसी रूप का होना। संपादित होना—पूर्ण होना। रुपांतरित—बदल देना। संपर्क—सम्बन्ध में आना।

नोट—इस लेख में "पानी" के मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया गया है।

बात

सहवर्ती—साथी। संभाषण—बात चीत। अशरफुलमख़लूक़ात—संसार में सबसे श्रेष्ठ। नभ-चारी—खग, पक्षी। आदृत—सम्मानित, जिसका आदर किया जाता हो। कलामुल्लाह—ईश्वर का वचन। पर्याय—एक ही अर्थ बताने वाला। निर्गत—बाहर निकला हुआ। जात्योपकार—(जात्युपकार) जाति की भलाई। अनुगमन—अनुकरण, अनुसरण, पीछे चलना। अंगीकार—स्वीकार। विदग्धालापों—विद्वता पूर्ण वचनों या विद्वानों की बातों।

नोट—"बात" के मुहावरों के सुन्दर प्रयोग अध्ययन करने योग्य हैं।

परीक्षा

नोट—इस लेख से हमें मिश्रजी के अनुभव-जन्य ज्ञान का परिचय मिलता है। गुप्त रुपेण—गुप्त रूप से। मिष्टभाषी—मीठे वचन बोलने वाले।

वृद्ध

यह लेख जिस समय लिखा गया था, उस समय देश में सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक आन्दोलन हो रहे थे। नवयुवकों ने इनका स्वागत किया और वृद्धों ने विरोध। इन वृद्धों पर आक्षेप करते हुए और नवयुवकों को उनका कर्त्तव्य सुझाते हुए यह लेख लिखा गया था।

वयोधिक—(वयः + अधिक) वय—अवस्था, आयु। आंतरिक कोष—समस्त जीवन के अनुभव। कलई खोलना—गुप्त रहस्यों को प्रकट करना। गट्टा सी—बहुत कड़ी-कड़ी। कबीर दास—का वह दोहा यह है—

कबिरा हाय गरीब की, हरि सों सही न जाय।
मुई खाल की साँस सों, सार भसम हुइ जाय॥

नव विधान—सुधार करने की नई-योजना। मौखिक—(मुख से विशेषण) oral, जबानी। बृहज्जीवनआशा—(बृहत् + जीवन + आशा) बृहत्—बड़ी, अधिक। शुश्रूषा—सेवा। अनित्यता—नाश हो जाना। पसेमर्ग—मरने के बाद। यावदवयव—सब अंग। भगवच्चरणानुसरण—(भगवन् + चरण + अनुसरण) भक्ति करना। कुत्सित—गंदा, व्यर्थ।

नोट—चुभता हुआ व्यंग्य इस लेख की विशेषता है।

दांत

यावत्—सब, समस्त। बरुणी—पलक के बाल। पन्नगी—सर्पिणी। छहों रस—अम्ल, तिक्त, कटु कषाय आदि। नवों रस—शृङ्गार, रौद्र, वीर, वीभत्स, हास्य, करुण, अद्भुत, भयानक और शांत। दंतावली—अवली = कतार—दाँतों की पंक्तियाँ। स्थान भ्रष्टा······नराः—अपने स्थान से गिरे हुए दाँतों,

केशों, नखों, मनुष्यों, किसी का आदर नहीं होता। आदर तभी तक होता है, जब तक ये अपने पद पर हैं।

दाँता किलकिल—आपस की कलह।

नोट—"दाँत" के मुहावरों का उचित प्रयोग देखिए।

स्वतंत्र

नेचर—प्रकृति—अँगरेजी के शब्दों का प्रयोग मिश्रजी ने अधिक नहीं किया है। व्यस्त—चिंतित। कोढ़ में खाज—इसी ढंग की एक कहावत है गरीबी में आटा गीला। नाट्य करना—दिखावा करना। कुलांगनाओं—आज कल की स्त्रियों के विषय में यह नहीं कहा गया है। आर्यत्व की स्थिरता—आर्य हिंदू-धर्म से तात्पर्य है। छब्बीसाक्षरी—अँगरेजी के २६ वर्णों से तात्पर्य है। आंतरिक—हृदय के। टाइप वाले—अपनी तरह के, यह दूसरा अँगरेजी शब्द है। वाह्यिक—बाहरी-ऊपरी। समागम मिल-जुल कर। परिचयी—'परिचित' से तात्पर्य है। इतरता—परायापन—क्षुद्रता। लक्ष्य—जान पड़ता है कि मिश्रजी ने किसी पर आक्षेप करते हुए यह लेख लिखा था। दुराशा—जिस आशा के पूर्ण होने में आरम्भ से ही संदेह हो।—निराशा—कार्य करने के पश्चात् सफलता में संदेह होना। अनुदार—जो उदार न हो, कृपण। नेटिव—अपने देश का—अङ्गरेजी का शब्द है। तत्वज्ञ-तत्व समझने वाला। विभ्रम—पागल—भ्रम में फँसे हुए।

खुशामद

मीन-मेष—संदेह। बैल को दुहकर—असम्भव और अप्राकृतिक बात को भी सहज और सरल हो जाना। उदरंभर—केवल अपना पेट ही भरने वाला; स्वार्थी। स्वार्थ परायण—स्वार्थी।

होली है

अनावृष्टि—पानी न बरसना। मुहर्रमी—उदास।

बुभुक्षितः किं......पापं—भूखा कौन पाप नहीं करता। नेस्ती-आलस्य, उदासीनता। नियम विरुद्ध—अनुचित—सीमा के अन्दर रहने से तात्पर्य है। अति बुरी है—Excess of every thing is bad दुःसाध्य—कठिन—व्यर्थ। सरगापत्तालो—इधर उधर की व्यर्थ की, जिनका सर-पैर न हो। अधिष्ठाता-स्थापित करने वाला, जनक। समयांतर—कुछ समय के पश्चात्, कालांतर।

नोट—मिश्र जी के इस लेख की तर्क-शैली का अध्ययन कीजिए। "आप" शीर्षक लेख की शैली से इसका मिलान कीजिए।

सोने का डंडा और पौंड़ा

सोने के डंडे से लेखक का तात्पर्य उद्धव के उस शुष्क ज्ञान से है, जो देखने में तो बड़ा सुन्दर जान पड़ता है पर वास्तव में गोपियों के भक्तों के—हृदयों को जिससे शांति नहीं मिलती। पौंडे से अभिप्राय—सरसता से है। निर्द्वंदता—स्वच्छन्दता, निश्चिंत होना। क्लांत—पीड़ित—सताया हुआ। प्रगाढ़ेच्छा—बलवती इच्छा। अकृत्रिम—सत्य। सद्ग्रंथावलोकन—सत्+ग्रंथ+अवलोकन—अच्छे ग्रंथों का पढ़ना।

ट

लालित्य—सुन्दरता। दुरूहत्व—कठिनता; कठोरता। प्रविष्ट—प्रचलित; प्रवेश कर गया है। सर्वभावेन—सभी प्रकार से। सार्थक और निरर्थक—विरोधी शब्द हैं। टेव—आदत, स्वभाव, लत।

नोट—इस लेख की शैली पिछले सभी लेखों से किसी अंश तक भिन्न है। पाठक इसका विशेष रूप से अध्ययन करें।